रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

अप्रैल-मई-जून

★ १९९४ ★

प्रबन्ध-सम्पादक
स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक
स्वामी विदेहात्मानन्द

व्यवस्थापक
स्वामी त्यागात्मानन्द

वर्ष ३२
अंक २

वार्षिक १५/- एक प्रति ५/-

आजीवन ग्राहकता शुल्क (२५ वर्षों के लिए) २००/-

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम
रायपुर - ४९२ ००१ (म.प्र.)
दूरभाष : २५२६९

अनुक्रम

कम्पोजिंग : लेजरपोर्ट कम्प्यूटर्स, शंकर नगर, रायपुर
मुद्रण : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंग नगर, रायपुर

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी त्रैमासिक

वर्ष ३२) अप्रैल - मई - जून ☆ १९९४ ☆ (अंक २

याचना अनावश्यक है

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम् ।
मृदुस्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी
सहन्ते संतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ॥

जब खाने को प्रत्येक वन के वृक्षों पर सहज एवं स्वेच्छया लभ्य फल विद्यमान हैं, जब पीने को जगह जगह शीतल तथा मधुर नदियों का पानी प्रवाहित हो रहा है, जब सोने को सर्वत्र सुन्दर लता-पल्लवों की कोमल शय्या सुलभ है, तो भी कितने आश्चर्य की बात है कि लोभी मनुष्य धनिकों के द्वार पर उपस्थित होकर कितने ही तरह के अपमान तथा कष्ट सहन करता रहता है ।

– भर्तृहरिकृत 'वैराग्यशतकम्' - २७

अग्नि-मंत्र

(श्री हरिदास बिहारीदास देसाई को लिखित)

शिकागो,
२० जून, १८९४

प्रिय दीवानजी,

आज आपका कृपा-पत्र मिला। मुझे बहुत दुःख है कि आप जैसे महात्मा व्यक्ति को मैंने अपने विवेचनाहीन कठोर शब्दों से चोट पहुँचायी। आपके मृदु सुधारों के आगे मैं नतमस्तक हूँ। 'मैं आपका पुत्र हूँ, मुझ नतमस्तक को शिक्षा दीजिए' - गीता। परन्तु दीवानजी साहब, आप यह अच्छी तरह जानते हैं कि मेरे स्नेह ने ही मुझे ऐसा कहने के लिए प्रेरित किया। आपको यह बताना चाहता हूँ कि पीठ पीछे मेरी निन्दा करनेवालों ने परोक्ष रूप से मुझे कोई लाभ नहीं पहुँचाया, बल्कि इस दृष्टि से मेरा घोर अपकार ही किया है कि हमारे हिन्दू भाइयों ने अमेरिकनों को यह बतलाने के लिए अपनी अँगुली भी नहीं हिलायी कि मैं उनका प्रतिनिधि हूँ। मेरे प्रति अमेरिकनों की सहृदयता के निमित्त, काश! हमारी जनता उनके लिए धन्यवाद के कुछ शब्द प्रेषित कर पाती और यह बताती कि मैं उनका प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ। श्री मजूमदार, बम्बई से आगत नागरकर नाम का एक व्यक्ति तथा पूना से आगत सोराबजी नाम की एक ईसाई लड़की अमेरिकनों से कह रहे हैं कि मैंने अमेरिका में ही संन्यासियों के वस्त्र धारण किये हैं और मैं एक धूर्त हूँ। जहाँ तक मेरे स्वागत का प्रश्न है, इसका अमेरिकी जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, परन्तु जहाँ तक धन द्वारा मेरी सहायता का प्रश्न है, इसका बहुत बुरा प्रभाव पड़ा, क्योंकि उन्होंने मेरी ऐसी सहायता करने से अपने हाथ खींच लिए। मैं यहाँ एक वर्ष से हूँ, किन्तु किसी भी ख्यातिमान भारतीय ने अमेरिकनों को यह बताना उचित नहीं समझा कि मैं प्रवंचक नहीं हूँ। फिर यहाँ मिशनरी लोग सदा मेरे विरुद्ध कही गयी बातों की

ताक में रहते हैं और भारत के ईसाई पत्रों द्वारा मेरे विरुद्ध लिखी गयी बातों को खोजने एवं उनको यहाँ प्रकाशित कराने में सदा व्यस्त रहते हैं। आपको यह विदित होना चाहिए कि यहाँ के लोग भारत में ईसाई एवं हिन्दू में अन्तर के बारे में बहुत कम जानते हैं। मेरे यहाँ आने का मुख्य प्रयोजन अपनी एक योजना के लिए धन एकत्र करना ही था। मैं आपसे ये बातें फिर कह रहा हूँ।

पूर्व एवं पश्चिम में सारा अंतर यह है कि उनमें राष्ट्रीयता की भावना है, और हम लोगों में नहीं, अर्थात् सभ्यता एवं शिक्षा का प्रसार यहाँ व्यापक है, सर्वसाधारण में व्याप्त है। उच्च वर्ग के लोग भारत और अमेरिका में समान हैं, लेकिन दोनों देशों के निम्न वर्गों में जमीन-आसमान का फर्क है। अंग्रेजों के लिए भारत को जीतना इतना आसान क्यों सिद्ध हुआ ? यह इसलिए कि वे एक राष्ट्र हैं, हम नहीं। जब हमारा कोई महापुरुष चल बसता है, तो एक और के लिए हमें सैकड़ों वर्ष बैठे रहना पड़ता है; और ये उनका सर्जन उसी अनुपात में कर सकते हैं, जिस अनुपात में उनकी मृत्यु होती है। जब हमारे दीवानजी साहब नहीं रहेंगे, (जिन्हें हमारे देश के कल्याण के लिए प्रभु चिरंजीवी रखें), तो उनके स्थान की पूर्ति के लिए जो कठिनाई होगी, उसका अनुभव देश को तत्काल ही हो जायगा। कठिनाई तो इसी बात से प्रत्यक्ष हो जाती है कि आपकी सेवाओं के बिना लोगों का काम नहीं चलता है। यहाँ महापुरुषों का अभाव है। ऐसा क्यों ? क्योंकि महापुरुषों के चुनाव के लिए उनके पास बहुत बड़ा क्षेत्र है, जबकि हमारे पास, बहुत ही छोटा। तीन, चार या छह करोड़ की जातियों की तुलना में तीस करोड़ की जाति के पास अपने महापुरुषों के चुनाव के लिए क्षेत्र सबसे छोटा है। क्योंकि शिक्षित पुरुषों एवं स्त्रियों की संख्या उन जातियों में बहुत अधिक है। आप मेरे विवेचक मित्र हैं, मुझे गलत न समझें, यही हमारे देश का बहुत बड़ा दोष है और इसे दूर करना ही होगा।

सर्वसाधारण को शिक्षित बनाइए एवं उन्नत कीजिए । इसी तरह एक राष्ट्र का निर्माण होता है । हमारे सुधारकों को यही नहीं मालूम कि चोट कहाँ है, और वे विधवाओं का विवाह कराके देश का उद्धार करना चाहते हैं, क्या आप यह मानते हैं कि किसी देश का उद्धार इस बात पर निर्भर है कि उसकी विधवाओं के लिए कितने पति प्राप्त होते हैं ? और न इसके लिए धर्म को ही दोषी ठहराया जा सकता है, क्योंकि सिर्फ मूर्ति-पूजा से यों कोई अंतर नहीं पड़ता । सारा दोष यहाँ है : यथार्थ राष्ट्र जो कि झोपड़ियों में बसता है, अपना मनुष्यत्व विस्मृत कर चुका है, अपना व्यक्तित्व खो चुका है । हिन्दू , मुसलमान, ईसाई – हरेक के पैरों तले कुचले गये वे लोग यह समझने लगे हैं कि जिस किसी के पास पर्याप्त धन है, उसी के पैरों-तले कुचले जाने के लिए ही उनका जन्म हुआ है । उन्हें उनका खोया हुआ व्यक्तित्व वापस करना होगा । उन्हें शिक्षित करना होगा । मूर्तियाँ रहें या न रहें, विधवाओं के लिए पतियों की पर्याप्त संख्या हो या न हो, जाति-प्रथा दोषपूर्ण है या नहीं, ऐसी बातों से मैं अपने को परेशान नहीं करता । प्रत्येक व्यक्ति को अपना उद्धार अपने आप ही करना पड़ेगा । हमारा कर्तव्य केवल रासायनिक पदार्थों को एकत्र कर देना है, ईश्वरीय विधान से रवे अपने आप जम जाएँगे । हमें केवल उनके मस्तिष्क में विचारों को भर देना है, शेष सब वे अपने आप कर लेंगे । इसका अर्थ हुआ सर्वसाधारण को शिक्षित करना । यहाँ ये कठिनाइयाँ हैं । एक अकिंचन सरकार कभी कुछ नहीं कर सकती, न करेगी; अतः उस दिशा से किसी सहायता की कोई आशा नहीं ।

अगर यह भी मान लिया जाय कि प्रत्येक गाँव में हम लोग निःशुल्क पाठशाला खोलने में समर्थ हैं, तब भी गरीब लड़के पाठशालाओं में आने की अपेक्षा अपने जीविकोपार्जन हेतु हल चलाने जाएँगे । न तो हमारे पास धन है और न हम उनको शिक्षा

के लिए बुला ही सकते हैं। समस्या निराशाजनक प्रतीत होती हैं। मैने एक रास्ता ढूँढ निकाला है। वह यह है। अगर पहाड़ मुहम्मद के पास नहीं आता, तो मुहम्मद को पहाड़ के पास जाना पड़ेगा। यदि गरीब शिक्षा के निकट नहीं आ सकते, तो शिक्षा को ही उनके पास हल पर, कारखाने में और हर जगह पहुँचना होगा। यह कैसे ? आपने मेरे गुरुभाइयों को देखा है। मुझे सारे भारत से ऐसे निःस्वार्थ, अच्छे एवं शिक्षित सैकड़ों नवयुवक मिल सकते हैं। दरवाजे दरवाजे पर धर्म को ही नहीं, शिक्षा को भी पहुँचाने के लिए इन लोगों को गाँव गाँव घूमने दीजिए, इसलिए विधवाओं को भी हमारी महिलाओं की शिक्षिकाओं के रूप में संगठित करने के लिए मैंने एक छोटे से दल का आयोजन किया है।

अब मान लीजिए कि ग्रामीण अपना दिन भर का काम करके अपने गाँव लौट आये हैं और किसी पेड़ के नीचे या कहीं भी बैठकर हुक्का पीते, गप्पें लड़ाते समय बिता रहे हैं। मान लीजिए दो शिक्षित संन्यासी वहाँ उन्हें लेकर कैमरे से ग्रह-नक्षत्रों के या भिन्न भिन्न देशों के या ऐतिहासिक दृश्यों के चित्र उन्हें दिखाने लगें। इस प्रकार ग्लोब, नक्शे आदि के द्वारा जबानी ही कितना काम हो सकता है, दीवानजी साहब ? केवल आँख ही ज्ञान का एकमात्र द्वार नहीं है, कान से भी यह काम हो सकता है। इस प्रकार नये-नये विचारों से, नीति से उनका परिचय होगा एवं वे उन्नततर जीवन की आशा करने लगेंगे। यहाँ हमारा काम खत्म हो जाता है। शेष उन पर छोड़ देना होगा। संन्यासियों को त्याग के इतने बड़े इस कार्य के लिए प्रेरणा कहाँ से मिलेगी ? धार्मिक उत्साह से। धर्म के हर नये तरंग के लिए एक केन्द्र की आवश्यकता होती है। पुराने धर्म को केवल एक नया केन्द्र ही पुनरुज्जीवित कर सकता है। अपनी रूढ़ियों एवं पुराने सिद्धान्तों को सूली पर चढ़ा दीजिए, उनसे कोई लाभ नहीं होता। एक

चरित्र, एक जीवन, एक केन्द्र, एक ईश्वरीय पुरुष ही मार्गदर्शन करेंगे। इसी केन्द्र के चारों ओर अन्य सभी उपादान एकत्र हो जाएँगे एवं एक प्रलयंकर महातरंग की तरह समाज पर जा गिरेंगे तथा सबको बहाकर ले जाते हुए उनकी अपवित्रताओं का भी नाश करेंगे। फिर, जैसे लकड़ी को उसके रेशे की दिशा में ही चीरने में आसानी होती है, वैसे ही पुराने हिन्दू धर्म का सुधार हिन्दू धर्म से ही हो सकता है, नये नये सुधार-आन्दोलनों के द्वारा नहीं। साथ ही साथ इन सुधारकों को अपने में पूर्व एवं पश्चिम, दोनों संस्कृतियों का मिलन कराना होगा। क्या आपको नहीं लगता कि आपने ऐसे महान आन्दोलन के केन्द्र को प्रत्यक्ष किया है ? उस बढ़ते हुए प्लावन की अस्पष्ट गम्भीर गर्जना को सुना है ? वह केन्द्र, मार्गदर्शक उस देवमानव का जन्म भारत ही में हुआ। वे थे महान श्रीरामकृष्ण परमहंस। उन्हीं को केन्द्र मानकर यह दल धीरे धीरे बड़ा हो रहा है। इन्हीं लोगों से यह काम होगा।

दीवानजी महाराज, अब इसके लिए एक संगठन की आवश्यकता है, रुपयों की जरूरत है - भले ही थोड़े से की, जिससे काम शुरू किया जा सके। भारत में हमें धन कौन देता ? इसीलिए, दीवानजी महाराज, मैं अमेरिका चला आया। आपको यह बात शायद याद हो कि मैने सारा धन गरीबों से माँगा था और धनियों के दान को मैं इसलिए अस्वीकार कर देता था कि मेरी भावनाओं को वे नहीं समझ पाते। इस देश में पूरे साल भर तक व्याख्यान देते रहने पर भी मुझे अपने कार्य के आरम्भ के लिए धनार्जन की अपनी योजना में जरा सी भी सफलता नहीं मिली (निश्चय ही मुझे अपने लिए कोई अभाव नहीं हुआ)। पहली बात यह है कि यह साल अमेरिका के लिए बहुत बुरा है; हजारों गरीब बेरोजगार हैं। दूसरी, मिशनरी तथा .... मेरी योजनाओं में बाधा डालने का प्रयत्न कर रहे हैं। तीसरी बात यह

है, एक साल गुजर गया और हमारे देशवासी मेरे लिए इतना भी नहीं कर सके कि अमेरिका के लोगों से वे कहते कि मैं एक वंचक नहीं हूँ, बल्कि एक यथार्थ संन्यासी हूँ, कि मैं हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व कर रहा हूँ। इतना भी, इन थोड़े शब्दों का व्यय भी, वे नहीं कर सके। शाबाश, मेरे देशवासियो ! दीवानजी, मैं उनको प्यार करता हूँ। मानवीय सहायता को मैं लात मारता हूँ। मुझे आशा है कि वे जो सदा पर्वतों एवं उपत्यकाओं में, मरुस्थलों एवं वनों में, मेरे साथ रहे है, मेरे साथ रहेंगे, अगर और ऐसा न हुआ तो फिर भारत में कभी मुझसे भी कहीं अधिक योग्यतासम्पन्न किसी और वीर का उदय होगा जो इस कार्य को सम्पन्न करेगा। आज मैं आपको सभी कुछ कह गया। दीवानजी, मेरे लम्बे पत्र के लिए मुझे क्षमा करें। आप मेरे अच्छे मित्र हैं, उन बहुत थोड़ों में से एक, जो मेरे प्रति सहानुभूति रखते हैं, जो मेरे ऊपर यथार्थ में कृपालु हैं। आप यह सोचने के लिए स्वतंत्र हैं कि मैं एक स्वप्नद्रष्टा या एक कल्पनाशील व्यक्ति हूँ ; लेकिन आप कम से कम इतना विश्वास रखें कि मैं एक पूर्णतः सच्चा ईमानदार व्यक्ति हूँ और मुझमें सबसे बड़ा दोष यही है कि मैं अपने देश से अधिक – बहुत अधिक प्रेम करता हूँ। मेरे प्रिय मित्र, आप और आपके सम्बन्धी सदा ही कल्याण के भागी हों। जो आपका प्यारा हो, उस पर भगवान की कृपादृष्टि सदा बनी रहे। मैं आपके प्रति चिरकृतज्ञ हूँ। मैं आपका अगाध ऋणी हूँ, केवल इसलिए नहीं कि आप मेरे मित्र हैं, वरन इसलिए भी कि आपने यावज्जीवन इतने उत्तम रूप से भारतमाता और परमात्मा की सेवा की है।

आपका सतत कृतज्ञ,

विवेकानन्द

पहले चरित्र गढ़ो

स्वामी वीरेश्वरानन्द

(त्रिपुरा की राजधानी अगरतला में विवेकानन्द-युवा-महामण्डल के तत्त्वावधान में १४ फरवरी १९७६ ई. को एक विराट् जनसभा हुई थी, जिसमें बीस हजार से भी अधिक लोग उपस्थित थे। रामकृष्ण संघ के तत्कालीन अध्यक्ष स्वामी वीरेश्वरानन्दजी महाराज ने उक्त अवसर पर आंग्ल भाषा में यह लघु व्याख्यान दिया था, जो 'विवेक-जीवन' मासिक के जुलाई, १९७६ अंक में प्रकाशित हुआ। वहीं से हम युवकों के लिए विशेष रूप से उद्‌बोधक इस अनुलिखन का हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।- सं.)

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका से लौटकर भारत आये तो बहुत से लोगों ने उनसे अनुरोध किया कि वे राजनीति में भाग लेकर देश को स्वाधीन कराएँ। उत्तर में स्वामीजी ने कहा था – "बात तो ठीक है, परन्तु मान लो यदि मैं कल ही देश को स्वाधीन करा दूँ तो क्या तुम लोग स्वाधीनता की रक्षा कर सकोगे? तुम्हारे देश में मनुष्य कहाँ हैं ?" इस एक ही वाक्य में उन्होंने हम लोगों को समझा दिया कि मनुष्य के अभाव में कुछ भी न होगा। आज हम उनके इस कथन का महत्व और भी ज्यादा समझ पा रहे हैं। आज भारत में इतनी समस्याएँ क्यों दीख रही हैं ? – मनुष्य के अभाव में। यदि सच्चे मनुष्य होते, तो सारी कठिनाइयाँ दूर हो जातीं। राजनीति का आदर्श हो या शिक्षा का, यदि देश में मनुष्य रहते, तो सभी आदर्श ठीक हो जाते। इसी मनुष्य के अभाव में हमारी प्रगति रुकी हुई है।

प्रश्न उठता है कि मनुष्य का निर्माण कैसे होता है ? क्या संसद के द्वारा मनुष्य बनाया जाता है ? कदापि नहीं। मनुष्य का निर्माण होता है – धर्मजीवन के द्वारा। इसीलिये स्वामीजी ने कहा था कि तुम्हारे भीतर जो आत्मा है, उसी आत्मा को जगाकर, उसी की शक्ति से तुम लोग काम में लग जाओ। धर्म को अपनाकर तुम भारतवर्ष की उन्नति के लिये कर्मक्षेत्र में उतर पड़ोगे। धर्म ही भारत की जीवनी-शक्ति है अतः धर्म को छोड़कर

देश की उन्नति नहीं हो सकती, और यही जीवनी-शक्ति यदि ठीक रहे तो बाकी सब कुछ अपने-आप ठीक हो जायेगा। हम देखते हैं कि भारतवर्ष का वास्तविक जागरण उसी दिन शुरू हुआ, जिस दिन अमेरिका की धर्ममहासभा में स्वामीजी ने 'हिन्दू-धर्म' पर व्याख्यान दिया। इसे सुनकर सम्पूर्ण अमेरिका पागल हो उठा। सारे जगत ने विस्मय में आकर देखा – भारतवर्ष अब निद्रित नहीं है, मृत नहीं है वरन जीवित है, जाग्रत है। सिर्फ जीवित ही नहीं है, बल्कि भारत अब दिग्विजय करेगा, विश्व जय करेगा। यह विश्वविजय कैसे होगा ? क्या एटम बम गिराकर भारत विश्वयजी होगा ? नहीं। स्वामीजी ने कहा है – शान्ति और शुभेच्छा की वाणी के द्वारा। यही आदर्श सम्पूर्ण विश्व को एक कर डालेगा। सभी भेदभावों को दूरकर एकताबद्ध जगत की सृष्टि करेगा।

धर्मजीवन ही हमारी आधारशिला है। स्वामीजी ने कहा है कि हमारा धर्मजीवन ठीक हो जाने पर सब ठीक हो जाएगा। सर्वप्रथम जब हमारे धर्म के क्षेत्र में जागरण आया, तत्पश्चात् हम देखते हैं कि स्वामीजी के प्रयासों से भारतवर्ष में सभी क्षेत्रों में जागरण आया – शिक्षा, साहित्य, कला, अर्थशास्त्र, राजनीति सभी क्षेत्रों में। इसीलिये स्वामीजी ने हमें धर्म को पकड़े रहने के लिए कहा है। हमें और भी सभी चीजों की जरूरत हो सकती है, परन्तु सभी चीजों को धर्म की नींव पर ही खड़ा करना होगा। इस बात को विस्मृत करने से हमारा काम नहीं चलेगा।

विवेकानन्द युवा महामण्डल के सदस्यों से मैं कहूँगा कि पहले तुम लोग मनुष्य बनो, फिर कर्म करना। मनुष्य न बन पाने तक कर्म न कर सकोगे। कर्मक्षेत्र में उतरने पर झगड़ा-फसाद, मारपीट यही सब होगा। इसीलिये तुम लोगों के लिए सर्वप्रथम कर्तव्य है – मनुष्य बनना, धार्मिक बनना। तुम लोग चरित्र गठन

पर जोर दो । यही बात मैं तुम लोगों को विशेष रूप से कहूँगा । स्वामीजी का यही आदर्श था और यही सन्देश था । सिर्फ नवयुवकों के प्रति ही नहीं वरन् समस्त भारतवासियों को उनका यही सन्देश था – तुम सभी मनुष्य बनो ।

स्वामीजी से मेरी प्रार्थना है कि वे हमें शक्ति दें ताकि हम मनुष्य बन सकें । मनुष्य होकर हम भारतवर्ष को महानता के शिखर तक पहुँचा सकेंगे । स्वामीजी ने कहा है कि पृथ्वी पर कोई भी ऐसी शक्ति नहीं है, जो भारतवर्ष को दबाकर रख सके । यही है स्वामीजी की वाणी । भारतवर्ष जाग चुका है । अब विश्वसभा में भारत अवश्य ही अपना उपयुक्त आसन प्राप्त करेगा । स्वामीजी से मेरी यही प्रार्थना है कि वे हमें भारत के लिए और विश्व के लिए कार्य करने की शक्ति दें । ताकि जगत् सभा ईर्ष्या-द्वेष आदि दूर होकर एक अखण्ड विश्व की सृष्टि हो सके । सम्पूर्ण जगत् के लोगों की एकता के लिये प्रयास करने की शक्ति हमें प्राप्त हो – स्वामीजी हमें यही आशीर्वाद दें ।

विवेक-शिखा

(श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा से अनुप्राणित)

हिन्दी मासिकी

वार्षिक ३०/-	आजीवन ५००/-
रजिस्टर्ड डाक से ४५/-	एक प्रति ४/-
स्वामी विरेश्वरानन्द स्मृति विशेषांक	५/-
युवा-शक्ति विशेषांक	५/-
रामकृष्ण संघ शताब्दी विशेषांक	६/-
स्वामी गम्भीरानन्द स्मृति विशेषांक	१०/-

लिखें : **सम्पादक, 'विवेक-शिखा', रामकृष्ण निलयम्, जयप्रकाश नगर, छपरा - ८४१ ३०२ (बिहार)**

ट्रस्टीशिप का भाव

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के 'चिन्तन' कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर विचारोत्तेजक तथा उद्बोधक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय-समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं और काफी लोकप्रिय हुए हैं। पाठकों के अनुरोध पर हम उन्हें क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत लेख 'आकाशवाणी' रायपुर के सौजन्य से गृहीत हुआ है। - सं.)

महात्मा गाँधी अपने समीप के धनिकों को बारम्बार 'ट्रस्टीशिप' का उपदेश देते थे। उनका तात्पर्य यह था कि सम्पत्ति का स्वामी अपने को मत मानो, बल्कि यह समझो कि ईश्वर ही सम्पत्ति का स्वामी है और तुम उसकी सुरक्षा और देखरेख करनेवाले ट्रस्टी हो। यह एक अमूल्य उपदेश है। जब मैं अपने को सम्पत्ति का स्वामी मानता हूँ, तो उसके व्यय में किसी का हस्तक्षेप मैं स्वीकार नहीं करता, मैं मनमाने खर्च किये जाता हूँ। किसी का अंकुश मुझे भाता नहीं। पर यदि मेरे अन्तःकरण में यह भावना बन जाय कि सम्पत्ति तो प्रभु की है और मुझ पर उसकी देखरेख का भार न्यस्त है, तो मैं खर्च के समय सावधान बना रहता हूँ और मेरी यह चेष्टा रहती है कि सम्पत्ति के किसी भी अंश का दुरुपयोग न होने पाये। सम्पत्ति पर स्वयं के स्वामित्व की भावना उसे साधारणतया दूसरे के काम में नहीं लगने देती, पर ट्रस्टीशिप का भाव कहता है कि यह सम्पत्ति दूसरों की सेवा के लिए समर्पित है। ट्रस्टी सम्पत्ति को भगवान की थाती के रूप में लेकर दुःखियों, पीड़ितों और असहायों की सेवा में उसे लगाकर धन्यता का बोध करता है। विशेषकर, मठ-मन्दिर और सार्वजनिक न्यासों की सम्पत्ति को जो अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए खर्च करता है, उसके समान निन्दित व्यक्ति और कोई नहीं माना गया।

इस सम्बन्ध में वाल्मीकि रामायण में एक उद्‌बोधक कथा आती है। एक कुत्ते ने प्रभु राम के दरबार में आकर फरियाद की कि स्वार्थसिद्ध नामक एक ब्राह्मण ने उसके सिर पर अकारण ही प्रहार किया है। उस ब्राह्मण को रामचन्द्रजी के समक्ष प्रस्तुत किया गया। वह बोला, " हे राघव, मैं क्षुधित था। सामने कुत्ते को बैठा देख मैंने उससे हटने को कहा। उसके न हटने पर मुझे क्रोध आ गया और मैंने उस पर प्रहार किया। महाराज, मुझसे अवश्य ही अपराध हुआ है, आप मुझे जो चाहें दण्ड दें।"

राजा राम ने अपने सभासदों से ब्राह्मण को दण्ड देने बावत परामर्श किया। सबने एक स्वर से निर्णय दिया – "ब्राह्मण को भले ही अवध्य कहा गया हो, पर आप तो परमात्मा के महान अंश है, अतः आप ही उचित दण्ड दे सकते हैं। इसी बीच कुत्ता बोला, प्रभो, मेरी इच्छा है कि आप इसे कलिंजर मठ का मठाधीश बना दें।" यह सुनकर सबको आश्चर्य हुआ, क्योंकि तब तो ब्राह्मण को भिक्षावृत्ति से छुटकारा मिल जाता और मठाधीश होने के बाद उसे सारी सुख-सुविधाएँ प्राप्त हो जातीं। रामचन्द्रजी ने कुत्ते से ब्राह्मण को मठाधीश बनाने का प्रयोजन पूछा। इस पर कुत्ता बोला, 'राजन, मैं भी पिछले जन्म में कलिंजर का मठाधीश था। मुझे वहाँ बढ़िया-बढ़िया पकवान खाने को मिलते थे। यद्यपि मैं पूजापाठ करता, धर्माचरण करता, तथापि मुझे कुत्ते की योनि में जन्म लेना पड़ा। इसका कारण यह है कि जो व्यक्ति देव, बालक, स्त्री और भिक्षुक आदि के लिए अर्पित धन का उपभोग करता है, वह नरकगामी होता है। यह ब्राह्मण अत्यन्त क्रोधी और हिंसक स्वभाव का तो है ही, साथ ही मूर्ख भी है, अतः इसको यही दण्ड देना उचित है।"

इस कथा के माध्यम से यही बात ध्वनित की गयी है कि जो सार्वजनिक सम्पत्ति को अपने ही स्वार्थ के लिए लगाता है, उसकी

दशा अन्त में श्वान की-सी होती है। इसके साथ ही यह बात भी सत्य है कि अपनी सम्पत्ति का भी केवल अपने स्वार्थ के लिए उपयोग मनुष्य को नैतिक दृष्टि से नीचे गिरा देता है। गीता की भाषा में मनुष्य को यह सम्पत्ति प्रकृति के यज्ञ-चक्र से प्राप्त हुई है, अतः उसे उसका उपयोग यज्ञ-चक्र के सुचारु रूप से चालित होने के निमित्त करना चाहिए। जैसे यदि कहीं पर वायु का अभाव पैदा हो, तो प्रकृति तुरन्त वहाँ वायु भेज देती है, उसी प्रकार जहाँ सम्पत्ति का अभाव है, उसकी पूर्ति में जिसके पास सम्पत्ति है उसका उपयोग होना चाहिए। यही सम्पत्ति के द्वारा यज्ञ-चक्र को पूर्ण बनाना है। इसी को ट्रस्टीशिप कहते हैं। यदि ऐसा न कर व्यक्ति सम्पत्ति का भोग स्वयं करे, तो उसे गीता में 'स्तेन' यानी चोर की उपाधि से विभूषित किया गया है।

अपने पास जब आवश्यकता से कुछ अधिक हो जाय, तो उसका समाज के अभावग्रस्त लोगों में वितरण करना 'अपरिग्रह' कहलाता है। यह अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप एक दूसरे के परिपूरक हैं। सम्पन्न लोगों को यह बात अच्छी तरह से समझ लेनी चाहिए कि यदि उन्होंने ट्रस्टीशिप की भावना को जीवन में अंगीकार न किया और तदनुरूप आचरण को न बदला, तो अभावग्रस्त लोगों के हृदय की टीस, उनका विक्षोभ और आक्रोश उनके जीवन को अशान्त और तनावों से युक्त बना देगा।

मानस रोग (२०/२)

पण्डित रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'रामचरितमानस' के अन्तर्गत 'मानस रोग' प्रकरण पर कुल मिलाकर ४६ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत अनुलेख उनके बीसवें प्रवचन का उत्तरार्ध है। टेपबद्ध प्रवचनों को लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय रायपुर में अध्यापक हैं। -सं.)

भगवान श्रीराम बालि का वध करते हैं। यह प्रसंग अपने आप में बड़ा विचित्र है, पर हम विचार करके देखेंगे कि इसके पीछे दर्शन क्या है। भगवान ने सुग्रीव का पक्ष लिया और बालि को दण्ड दिया। यहाँ पर उनके चरित्र का दर्शन बड़े सांकेतिक रूप में प्रस्तुत किया गया है। प्रश्न उठता है कि भगवान को हम किस रूप में देखें ? वेदान्त की मान्यता तो है कि ब्रह्म सम है और भक्तों की मान्यता है कि भगवान पक्षपाती हैं –

जद्यपि सम नहिं राग न रोषू
तदपि करहिं सम बिषम बिहारा।
भगत अभगत हृदय अनुसारा॥ २/२१९/३-५

अब दोनों में सही बात कौन सी हैं ? ईश्वर सम है कि विषम ? इसका सांकेतिक उत्तर यह है कि एक साथ दोनों की रक्षा करना ही ईश्वर की विलक्षणता है। एक दृष्टान्त के द्वारा हम इसे आपके सामने रखते हैं। मान लीजिए एक वैद्य के पास दस रोगी आये हुए हैं। अब वैद्य का कर्तव्य क्या है ? यही न कि वह समस्त रोगियों के प्रति सम हो। यह समत्व अगर किसी चिकित्सक में न हो, तो वह योग्य चिकित्सक नहीं है। लेकिन इस समता का अर्थ क्या है ? बस यही समझने की बात है। समता का एक अर्थ तो यह हुआ कि जितने रोगी आये हुए हैं उन सबको एक ही दवा दे दें, एक ही पथ्य बता दें और कह दें कि हम तो सब के प्रति सम

हैं। अगर चिकित्सक ऐसी समता दिखाने लगें, तो बेचारे रोगियों की क्या दशा होगी, इसे समझना कठिन नहीं है; तो समता का अभिप्राय है परिणाम में सम होना, व्यवहार में नहीं। व्यवहार में जिसको ऊँची दवा दी, उसे देखकर लगेगा कि उसका पक्ष लिया और जिसे कड़वी दवा दी, उसे देखकर लगेगा कि उसके प्रति द्वेषभाव है। पर दोनों का परिणाम क्या हुआ ? यही महत्वपूर्ण है। व्यवहार में एक को मीठी और दूसरे को कड़वी दवा दी गई, पर उसके पीछे वैद्य की भावना यही है कि परिणाम दोनों का सम हो। दोनों स्वस्थ हो जायँ। इसी प्रकार ईश्वर परिणाम में सम हैं। गोस्वामीजी ने इसी समन्वय-सूत्र को लेकर कहा कि ईश्वर परिणाम में सम हैं, पर व्यवहार में भक्तों का पक्ष लेते हुए दिखाई देते हैं। बालि और सुग्रीव के सन्दर्भ में भी यही बात है। अगर भक्ति के सन्दर्भ में देखें तो लगता है कि भगवान भक्त का अर्थात् सुग्रीव का पक्ष लेते हैं और बालि का वध करते हैं। पर अगर परिणाम की दृष्टि से देखें तो गोस्वामीजी कहते हैं कि परिणाम दोनों का समान है, परिणाम देने में भगवान सम हैं। कैसे ? यहाँ पर भगवान की बड़ी विचित्र भूमिका है दो भाइयों बालि और सुग्रीव के बीच झगड़ा है। अब इसमें भगवान राम की भूमिका क्या है ? वे किष्किन्धा का राज्य बालि से छीन कर सुग्रीव को दे देते हैं। यह तो सुग्रीव के प्रति उनका पक्षपात है। पर भगवान राम के चरित्र का दर्शन क्या है ? इन दोनों प्रसंगों में – रावण और विभीषण तथा बालि और सुग्रीव के प्रसंग में भगवान राम के चरित्र में आप यही सूत्र पाएँगे। रावण बड़ा भाई है तथा विभीषण छोटा और बालि बड़ा है तथा सुग्रीव छोटा। और दोनों प्रसंगों में आप यह बात समान रूप से देखेंगे कि भगवान ने बड़े को हटाकर छोटे को राज्य दिया। छोटे भाइयों का पक्ष लिया। सर्वत्र उनकी यही भूमिका है। वे स्वयं अपने चरित्र में छोटे भाई को महत्व देते

हैं, सम्मान देते हैं और अन्यत्र भी जहाँ बड़े के द्वारा छोटे की अवहेलना की जा रही हो, वहाँ भी वे छोटे और निर्बल का ही पक्ष लेते हुए दिखाई देते हैं, बड़े का नहीं। लेकिन इस पक्षपात में भी उनका समत्व दिखाई देता है। दो भाइयों में झगड़ा हो गया। वे फैसले के लिये पंच के पास गये। घर के बँटवारे का झगड़ा था। पंच निष्पक्ष होगा तो घर बराबर बराबर बाँट देगा और पक्षपाती होगा तो एक के पक्ष में निर्णय दे देगा। पर भगवान राम कैसे पंच हैं ? वे कुछ अलग प्रकार के पंच हैं। जब दो भाई झगड़ते हुए इनके पास पहुँचे, तो इन्होंने घर बड़े से छीनकर छोटे भाई को दे दिया। देखकर ऐसा लगा कि यह तो बड़ा अन्याय हुआ, पक्षपात हुआ, छोटे को पूरा घर दे दिया और बड़े को बिलकुल बेघर कर दिया। बड़ा भाई उदास हो गया और भगवान को उलाहना देने लगा –

मैं बैरी सुग्रीव पिआरा।
अवगुन कवन नाथ मोहि मारा॥ ४/९/६

महाराज, आप तो सम हैं, फिर यह पक्षपात कैसे किया ? गोस्वामीजी ने बड़ी मीठी बात कही – आप एक ऐसे पंच की कल्पना कीजिए, जो दो भाइयों के झगड़े में पूरा मकान छोटे भाई को दे दे और बड़े भाई के कान में धीरे कह दे कि मकान न होने से तुम घबराना मत। क्यों ? कह दिया – मेरे पास बहुत बढ़िया मकान है वह तुम ले लो। अपना घर छोटे भाई को दे दो और मेरा घर तुम ले लो। इस तरह तुम दोनों भाइयों के पास घर हो जायगा। बँटवारे में मकान के टुकड़े करने से क्या लाभ ? गोस्वामीजी ने लिखा कि भगवान राम ने बालि से छीनकर राज्य सुग्रीव को दे दिया और बालि को ?

राम बालि निज धाम पठावा। ४/११/१

भगवान राम ने बालि को अपना धाम दे दिया। दोनों को घर मिल गया, व्यवहार में पक्षपात दिखाई देते हुए भी, एक के गले में माला और दूसरे के छाती पर प्रहार दिखाई देते हुए भी, परिणाम दोनों के जीवन में समान है। एक को मीठी दवा और एक को कड़वी दवा, पर परिणाम की दृष्टि से दोनों के प्रति कल्याण की भावना है। सुग्रीव को किष्किन्धा का राज्य प्राप्त होता है, तो बालि को अपना धाम प्रदान कर वे पक्षपात और समता दोनों का निर्वाह करते हैं। वे अपने चरित्र के माध्यम से इसी मर्यादा का प्रसारण करते हैं और अपने ईश्वरत्व में स्थित दिखाई देते हैं।

भगवान राम ने सुग्रीव को राज्य तो दिया, पर उनके चरित्र का दर्शन क्या है ? परम्परा यह है कि राजा के पुत्र को ही राज्य मिलता है, लेकिन भगवान राम को यह परम्परा स्वीकार नहीं है। उन्होंने राजा सुग्रीव को बनाया और उत्तराधिकार अंगद को दिया। यही सूत्र है –

राजु दीन्ह सुग्रीव कहँ, अंगद कहँ जुबराज। ४/११

राज्य तो उन्होंने सुग्रीव को दिया, पर युवराज अंगद को बनाया, सुग्रीव के बेटे को नहीं। यही सुन्दर सामंजस्य है।

राज्य पाकर सुग्रीव जब पूछते हैं कि अब मेरे लिए क्या आदेश है, तब श्रीराम जो कहते हैं, वह बड़ा महत्वपूर्ण सूत्र है। और वह केवल सुग्रीव के ही सन्दर्भ में नहीं, बल्कि हमारे आपके, सबके लिए बड़े महत्व का है। वह सूत्र क्या है ? हमारे जीवन में एक प्रश्न आता है कि हम अपना कामकाज करें कि रामकाज करें ? संसार का व्यवहार देखें, या भक्ति करें ? तो भगवान राम एक सूत्र देते हैं जिसमें कामकाज और रामकाज का सुन्दर सामंजस्य है। उन्होंने कहा – जाओ, राज्य चलाओ। यह राज्य चलाना तो कामकाज है, लेकिन रामकाज कैसे चलाओगे ? तब भगवान ने आदेश दिया – राज्य तुम अकेले, अपनी इच्छा से मत चलाना। तो कैसे चलाना ?

अंगद सहित करहु तुम्ह राजू । ४/१२/९

याद रखना, बालि ने यह भूल की थी, उसने भाई और बेटे में भेद किया था । बालि के चरित्र की यह दुर्बलता थी । मान लीजिए बालि के मंत्रियों ने सुग्रीव के स्थान पर अंगद को सिंहासन पर बिठा दिया होता और बालि लौटकर आते, तो क्या वे अंगद से भी वही व्यवहार करते, जो उन्होने सुग्रीव से किया ? बिल्कुल नहीं। तब तो उसे संतोष हो जाता कि चलो कोई बात नहीं, मेरा बेटा ही तो सिंहासन पर बैठा हुआ है । पर उसने भाई और बेटे में भेद किया । यह भेदवृत्ति ही बालि के चरित्र की दुर्बलता है, जो उसके परिवार में अशान्ति और कलह की सृष्टि करती है । और यही हमारे और आपके जीवन में भी दिखाई देता है । आज भी समाज में इसी तरह की भेदवृत्ति दिखाई देती है और उसका परिणाम भी हम देख ही रहे हैं । भगवान श्रीराघवेन्द्र कामकाज का सूत्र देते हुए सुग्रीव से कह देते हैं – सुग्रीव, इस बात को तुम अच्छी तरह याद रखना कि राज्य तुम अकेले नहीं चलाओगे । बालि ने जो भूल की उसे तुम दुहराना मत । अंगद के साथ मिलकर, उसकी सलाह लेकर, दोनों एक मत होकर राज्य चलाना, यही मेरा आदेश है । यह बड़ा महत्वपूर्ण सूत्र है । इस प्रकार से कामकाज तो करना, पर साथ ही उन्होंने यह भी कह दिया कि इस कामकाज में व्यस्त होकर रामकाज को न भूल जाना –

अंगद सहित करहु तुमह राजू ।
संतत हृदयँ धरेहु मम काजू ॥ ४/१२/९

याद रखना, जनकनन्दिनी सीताजी का पता लगाना है । अभिप्राय यह है कि भेदरहित होकर व्यवहार का निर्वाह करते हुए, इस सत्य को अच्छी तरह से समझकर निरन्तर ध्यान में रखें कि भक्ति और भगवान को पाना ही जीवन का लक्ष्य है । इसके बिना जीवन किसी भी तरह पूर्ण नहीं होगा ।

भगवान श्रीराघवेन्द्र ने तो यह महानतम सूत्र सुग्रीव को दिया, पर सुग्रीव उसे पूरी तरह से हृदयंगम नहीं कर पाये। वे राज्य पाकर कामकाज में और उससे भी अधिक भोगों में डूब जाते हैं। भगवान को वे भूल गए, कई दिनों तक भगवान से मिलने ही नहीं आए। कभी याद आने पर वे अपने आपको यह सोचकर भुलावा देते कि भगवान ने सीताजी का पता लगाने के लिए कहा अवश्य है, पर इसमें उन्होंने समय का कोई बन्धन तो नहीं लगाया है। हम लोग भी प्रायः यही सोचते हैं कि भक्ति और भगवान की बात फिर कभी कर लेंगे, अभी जल्दी क्या है ! और तब भगवान किसकी याद करते हैं ? पहले तो अपने बाण की याद करते हैं। कहते हैं – लक्ष्मण, मैंने सोचा है कि जिस बाण से मैंने बालि के ऊपर प्रहार किया था, उसी बाण का प्रहार मैं सुग्रीव पर भी करूँगा। बड़ी विचित्र गुत्थी है। सीधे कह सकते थे कि मैं सुग्रीव को मारूँगा। जिस बाण से बालि को मारा, उसी बाण से सुग्रीव को मारूँगा – यह कहने की क्या आवश्यकता थी ?

भगवान का तात्पर्य यह था – मेरे पास दो रोगी आए थे। एक को मैंने मीठी दवा दी और दूसरे को कड़वी। राज्य देकर मैने सुग्रीव को मीठी दवा और बालि के छाती पर बाण चलाकर कड़वी दवा दी। लेकिन बड़ी विचित्र बात है। जिसे मैंने मीठी दवा दी, वह तो फिर रोगी हो गया और जिसे कड़वी दवा दी, वह निरभिमान होकर मेरे धाम में पहुँच गया। तो लगता है कि कड़वी दवा में कुछ अधिक चमत्कार है। इसलिए उसी दवा का प्रयोग जरा इस पर भी करके देखें। वही बाण ठीक रहेगा। इसलिए वे कहते हैं –

जेहिं सायक मारा मैं बाली।
तेहिं सर हतौं मूढ़ कहँ काली ॥ ४/१८/५

यह सुनकर लक्ष्मणजी ने तत्काल कहा – महाराज, इस कार्य के लिए आप मुझे आज्ञा क्यों नहीं देते ? काल के कई प्रतीक हैं –

एक तो भगवान राम का बाण है और दूसरे लक्ष्मण जी हैं। पर भगवान ने कहा – मारना नहीं है। – तो क्या करना हैं ? उन्होंने कहा – बहुत से काम तो व्यक्ति डर से करता है। सुग्रीव पहले डरा हुआ था, इसलिए शरण में आया और जब मैंने उसका भय दूर कर दिया, तो उल्टा वह मुझे ही भूल गया। उसे मारने की आवश्यकता नहीं है, बस उसमें फिर से थोड़ा भय उत्पन्न कर दो। लक्ष्मण उठकर बोले – मैं अभी उसे डरा देता हूँ। यह तो मेरा प्रिय कार्य है। मैं स्वयं आपसे डरता हूँ और चाहता हूँ कि जीव भी आपसे निरन्तर डरता रहे। भगवान ने तुरन्त लक्ष्मणजी का हाथ पकड़ लिया और धीरे से बोले – देखो, ध्यान रखना। उसमें दो बड़ी दुर्बलताएँ हैं, एक तो वह डरपोक है और दूसरे भगोड़ा। उसे डराना, पर देखना कि कहीं वह डरकर भाग न जाय। उसे डराकर यहीं ले आना –

भय देखाइ लै आवहू
तात सखा सुग्रीव ॥ ४/१८

पहले तो वह संसार से डरकर भागा हुआ मेरे पास आया, यह तो डरकर भागने की सार्थकता है। पर अब कहीं ऐसा न हो कि मुझसे डरकर वह संसार की ओर भाग जाय। यह तो डर का बड़ा दुरुपयोग हो जायगा। इसलिए तुम डर का सदुपयोग करना।

लक्ष्मणजी स्वयं भी बड़े सजग हैं, निरन्तर प्रबुद्ध हैं। वे सतत भगवान की ओर ही दृष्टि रखते हैं और भगवान के चरणों को तथा सजग भाव से उनके प्रत्येक संकेत को देखते रहते हैं।

भगवान लक्ष्मणजी से कहते हैं कि मेरे सखा सुग्रीव को भय दिखाकर यहाँ ले आओ और लक्ष्मणजी यही करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि कभी कभी जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु को सहजता से नहीं छोड़ पाता, भोग और वासनाओं को नहीं छोड़ पाता, तो भय एक ऐसी वृत्ति है जिससे सब छुड़ाया जा सकता है।

यह बात शरीर के रोगों के सन्दर्भ में भी दिखाई देती है और मन के रोगों के सन्दर्भ में भी। शरीर के रोगों में तो डरानेवाले ये डाक्टर और वैद्य हैं, अगर कह दिया कि नमक खाओगे तो मर जाओगे। अब बेचारा मरीज, जो नमक नहीं छोड़ पा रहा था, मृत्यु के डर से उसका नमक खाना छूट गया। इस तरह से भय की भी सार्थकता है। इस सन्दर्भ में एक बात पर विचार करके देखें। जैसे मृत्यु या रोग के भय से हम कुपथ्य छोड़ देते हैं, उसी तरह अगर ईश्वर से डरकर हम पाप और असत्कर्म छोड़ दें, तो डर की इससे अच्छी सार्थकता और क्या होगी ? और इस प्रसंग में हुआ भी यही। सुग्रीव डर गये। इस डर का परिणाम यह हुआ कि वे पुनः लौटकर भगवान के चरणों में आ गये और सच्चे अर्थों में उन्होंने जनकनन्दिनी सीताजी का पता लगाया। और इतना ही नहीं, अंगद के प्रति भी उन्होंने अत्यन्त उदारता का परिचय दिया। भगवान जैसा चाहते थे, आगे चलकर सुग्रीव के चरित्र का वैसा ही विकास हुआ और उनके जीवन में वह सामंजस्य आया। इसका पता कब चला ? जब अंगद, हनुमानजी और सारे बन्दर जनकनन्दिनी सीताजी का पता लगाकर आए। किष्किन्धा पहुँचने पर अंगद ने कहा कि हम लोग पहले सुग्रीवजी के पास नहीं जाएँगे। तो क्या करेंगे ? उन्होंने कहा – यह जो बाग है। इसमें मीठे फल लगे हैं। पहले हम लोग आनन्द से इन फलों को ग्रहण करें और अपनी भूख मिटाएँ। सभी अंगद के साथ बाग में जाकर फल खाने लगे। यह फल खाने की प्रेरणा अंगद को कहाँ से मिली ? वैसे अंगद सुग्रीव से थोड़ा दूर ही रहा करते थे कि पता नहीं अभी भी सुग्रीव के मन में उनके प्रति क्या भाव है। लेकिन हनुमानजी ने जब बताया कि उन्होंने अकेले ही रावण के बगीचे के मीठे फल खा लिए, तो अंगद ने कहा कि जब आपने अकेले इतने फल खा लिए तो अब हम लोग आपके साथ भूखे क्यों रहेंगे, यहाँ

सुग्रीव का बाग भी है और हम इतने लोग भूखे भी हैं। क्या आप जैसे संत का दर्शन करने और कथा सुनने के बाद भी हम भूखे रहेंगे ? नहीं, हम लोग भी सुग्रीव की वाटिका के फल खाएँगे। रावण के बगीचे में जैसे राक्षसों ने हनुमानजी को रोका था, उसी तरह सुग्रीव के बाग में भी पहरेदारों ने अंगद सहित सबको रोक दिया। हनुमानजी ने तो राक्षसों को मार ही डाला था, पर यहाँ पहरेदारों को मारा नहीं गया, उनको बस थोड़े से मुक्के लगाए गए। अशोकवाटिका के राक्षस दुर्गुण-दुर्विचार हैं। उनको तो पूरी तरह से मिटा देना चाहिए, पर सद्‌गुणों को भी थोड़े मुक्के लगाना चाहिए, ताकि अभिमान सिर न उठाने पाए अपने आपको रक्षक मानकर कि हम ही बचानेवाले हैं, हम ही सब करनेवाले हैं, यह भ्रान्ति न पनपने पाये, इसलिए मुक्के लगाना भी जरूरी है। पहरेदारों को जब मुक्के पड़े तो उन्होंने सोचा चलकर सुग्रीव के कान भरें, इनमें झगड़ा करा दें। उन्हें पता था कि अंगद और सुग्रीव में पटती नहीं हैं। यह भी कह सकते थे कि हनुमानजी ने फल खा लिया, बाग उजाड़ दिया। जाम्बवान, नल-नील का नाम भी ले सकते थे। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि इन लोगों से सुग्रीव का स्नेह था। वे नाराज नहीं होंगे। तो नाम किसका लिया ?

जाइ पुकारे ते सब बन उजार जुबराज। ५/२८

– महाराज, युवराज ने सारा बाग उजाड़ दिया। उनको विश्वास था कि इतना सुनते ही सुग्रीव कहेंगे कि उसे पकड़ लाओ। हम अभी उसे दण्ड देंगे। लेकिन सुग्रीव में कितना परिवर्तन आ गया है। पहरेदारों से शिकायत सुनकर वे जरा भी क्रोधित नहीं होते, बल्कि गोस्वामीजी के शब्दों में –

सुन सुग्रीव हरष कपि
करि आए प्रभु काज॥ ५/२८

सुग्रीव ने तुरन्त कहा – जाओ और अत्यन्त आदरपूर्वक उनका स्वागत करके उन्हें ले आओ । लगता है, उन लोगों ने जनकनन्दिनी का पता लगा लिया है, तभी तो उनमें इतनी निर्भयता और निश्चिन्तता आ गई है ।

इस तरह सुग्रीव के मन में क्रमशः एक महान परिवर्तन आता है, अंगद के प्रति उनके मन में उदार वृत्ति का उदय होता है और भय के कारण वे भोगों से विरत हो पाते हैं । तो धर्मशास्त्र में नरक के भय से और भक्ति में भगवान के भय से व्यक्ति के जीवन में परिवर्तन आता है, स्वार्थपरता और भोग की वृत्ति नियंत्रित होती है । मृत्यु का भय व्यक्ति के संग्रह की वृत्ति को नियंत्रित करता है । व्यक्ति चाहे जितना संग्रह करे, मृत्यु के बाद सब छूट जाता है । अगर सही अर्थों में यह ईश्वर और मृत्यु का भय व्यक्ति के जीवन में आ जाय तो वह समझने लग जाता है कि जीवन में केवल भोग ही नहीं, त्याग की भी अपेक्षा है, केवल लोभ ही नहीं, दान की भी अपेक्षा है । और इसी प्रकार से धर्म में प्रलोभन की बात कही गई । उसमें कहा गया कि व्यक्ति जो कुछ यहाँ दूसरों को देता है, वही कई गुना होकर उसे स्वर्ग में और अगले कई जन्मों में मिलता रहता है । इसका अभिप्राय यह है कि निरन्तर अपने स्वार्थ का ही चिन्तन करनेवाला भोगी व्यक्ति, त्याग की दिशा में स्वयं कभी प्रवृत्त नहीं होता और त्याग के बिना पूर्ण सुख-शान्ति और जीवन की सार्थकता वह पा नहीं सकता । इसीलिए शास्त्रों में प्रलोभन के द्वारा उसे दान और त्याग की दिशा में प्रेरित किया गया । जैसे किसी लोभी व्यक्ति से दान माँगने पर सम्भव है वह देने में आनाकानी करें, पर व्याज पर रुपये माँगने पर, वह बड़ी खुशी से दे देगा । वापस पाने की उसे विशेष चिन्ता नहीं रहती ।

एक व्यंग्य भरी गाथा आपने सुनी होगी । किसी सज्जन ने एक महात्मा को एक शाल ओढ़ा दिया । महात्मा ने कहा – मुझे

नहीं चाहिए। आप इसे वापस ले लीजिए। उस सज्जन ने कहा – महाराज, यह शाल मैंने आपको दी थोड़े ही है, यह तो मैंने व्यापार किया है। क्या व्यापार किया है ? बोले – मैं तो इस एक शाल के बदले कई शाल ले लूँगा। आप जैसे महात्मा को एक शाल दूँगा, तो मुझे अगले जन्म में इसका हजार गुना मिलेगा। महात्माजी भी बड़े विनोदी थे, उन्होंने शाल उतारकर कहा – भाई, एक तो अभी ही ले जाओ। बाकी ९९९ अगले जन्म में ले लेना। इस तरह लोभ की वृत्ति से भी व्यक्ति दान में प्रवृत्त होता है। यद्यपि यह कोई बहुत ऊँची वृत्ति नहीं हैं, पर शास्त्र तो हर सोपान पर निम्न वृत्तियों का निवारण कर उच्चतर और उच्चतम सोपानों तक व्यक्ति को उठाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

इन निम्न वृत्तियों के लिए या तो धर्म का मार्ग है, या भक्ति अथवा ज्ञान का। ज्ञान का मार्ग क्या है ? यहाँ सुख की परिभाषा बदल दी गई। कहा गया कि – सुख वैभव में नहीं, विषयों में नहीं, वह तो आत्मा में ही उपलब्ध है –

आनँदसिन्धु मध्य तव बासा।
बिन जाने कसि मरत पियासा॥

वस्तुतः सुख तो अपने भीतर है। बाहर के सुख में तो बँटवारे का झगड़ा है, पर भीतर का जो सुख है, आत्मा का जो सुख है, उसमें बँटवारे का कोई झगड़ा नहीं, कोई छीना-झपटी नहीं। जब हम अपने बाहरी जीवन में संग्रह करते हैं, तो लोभ के कारण अधिक संग्रह कर लेते हैं। उसे देखकर अन्य लोगों को ईर्ष्या होती है और इससे टकराव उत्पन्न होता है। ऐसी स्थिति में सन्तों ने सुख को अपने भीतर खोजने की, अन्तर के आनन्द को ढूँढने की प्रेरणा दी –

जल बिच धोबिया मरत पियासा।
जल में ठाढ़ पियत नहीं मूरख,

अच्छा जल है खासा ॥

इस तरह सन्तों ने कहा कि वास्तविक सुख पदार्थ और वैभव में नहीं है, वह तो आत्मसुख में है। इस तरह उन्होंने इस सुख के वितरण का समाधान दिया। जब यह ज्ञात हो गया कि बहिरंग पदार्थों में सुख नहीं है, सुख तो अपने अन्तर में हैं, तब उस अन्तर के सुख को पाकर बाह्य सुख के लोभ को छोड़ें और अपने संग्रह को उन लोगों में वितरित कर दें, जिन्हें उसकी आवश्यकता है। इससे संग्रहजन्य लोभ-ईर्ष्या आदि की जो वृत्तियाँ हैं और जिनके कारण समाज में टकराव की वृत्ति बनती है, उनका समाधान होगा। इस तरह ज्ञानियों ने, भक्तों ने और धर्मशास्त्र ने समाधान देने की चेष्टा की। पर इस समाधान के बावजूद व्यक्ति के मन के ये रोग इतने उलझे हुए हैं कि वह इन समाधानों का भी दुरुपयोग कर बैठता है। जैसे यह जो डर का सिद्धान्त है, रोगी मन इसका दुरुपयोग कर सकता है या नहीं ? कर सकता है। कैसे ? यदि वह ईश्वर का डर दूसरों को दिखावे और स्वयं डर से मुक्त रहे, दूसरों को त्याग की शिक्षा दे और अपने जीवन में संग्रह करे, दूसरों को आत्मसुख का उपदेश दे और स्वयं बाह्यसुख को स्वीकार कर ले; और व्यवहार में ऐसा दिखाई भी देता है। व्यक्ति सिद्धान्त की बात तो करता है, पर वह स्वयं के जीवन में उसका दुरुपयोग करता है। इसलिए समस्या के किसी एक पक्ष को लेकर उसका जो समाधान होगा, वह एकांगी होगा। समाधान की समग्रता तो तभी होगी, जब उसमें सभी पक्षों का समन्वय होगा। अगर कहा जाय कि केवल भीतर का सुख ढूँढो, बाहर देखो ही मत, तो यह अतिरेक होगा। और केवल बाहर के सुख को महत्व दें, भीतर बिल्कुल न देखें, तो क्या होगा ? अगर केवल अंतरंग सुख को महत्व दिया गया, तोपरिणाम यह होगा कि जीवनयापन के लिए बाह्य आवश्यकता की जो वस्तुएँ हैं,

उनका अभाव हो जाएगा। और यदि केवल बाह्य सुख को महत्व दिया गया, तो उसका परिणाम होगा कि समाज की बहिरंग दरिद्रता तो मिट जाएगी, पर इस लोभ और ईर्ष्या की वृत्ति की कोई सीमा नहीं रह जाएगी। भौतिक पदार्थों के साथ तो यह समस्या जुड़ी ही रहती है कि जितनी ही हमारी आवश्यकताएँ पूरी होती जाती हैं, लोभ उतना ही बढ़ता जाता है, मन की भूख बढ़ती जाती है। जिनके पास है वे और अधिक का लोभ करते हैं और जिनके पास नहीं हैं, वे ईर्ष्या करते हैं। ये लोभ और ईर्ष्या – दोनों एक दूसरे की पूरक वृत्तियाँ हैं। लोभ से ईर्ष्या उत्पन्न होती है और ईर्ष्यालु व्यक्ति स्वयं लोभी बन जाता है। इन दोनों का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसीलिए –

पर सुख देखि जरनि सोइ छई। ७/१२१/३४

दूसरों का सुख देखकर जलने की वृत्ति मुख्यतः लोभ से जुड़ी हुई है। इस वृत्ति के दृष्टान्त के रूप में मानस में इस रोग से ग्रस्त मन्थरा को प्रस्तुत किया गया। यह वृत्ति मन्थरा के चरित्र में दिखाई देती है। मन्थरा स्वयं अन्तःपुर में रहती है, महारानी कैकेयी की प्रिय सेविका है, कैकेयी नरेश की कृपापात्र है, पर इतना होते हुए भी लोभ की वृत्ति उसके अन्तःकरण में दबी पड़ी है। और उसका अतिरेक ईर्ष्या भी उसके चरित्र में दिखाई देता है। मन्थरा नगर में घूमने को निकली। नगर सजाया जा रहा था। उसने पूछा– नगर क्यों सजाया जा रहा है? तो उसे समाचार मिला कि कल अयोध्या के राजसिंहासन पर श्रीराम का तिलक होने वाला है। अब अगर मन्थरा को यह समाचार मिला होता कि उसकी नौकरी समाप्त होनेवाली है, उसे देश-निकाला होने वाला है और उसे सुनकर वह दुखी हो जाती, तब तो यह स्वाभाविक लगता, पर गोस्वामीजी कहते हैं –

पूछसि लोगन्ह काह उछाहू।
राम तिलकु सुनि भा उर दाहू॥ २/१३/२

श्रीराम के राजतिलक की बात सुनकर उसका हृदय जलने लगा। गोस्वामीजी ने कहा कि इस जलन की भी मात्रा होती है। अगर लोभ कफ हो और उस कफ से साधारण खाँसी आवे तो वह जल्दी ठीक हो सकता है, पर यदि खाँसी यक्ष्माजन्य हो, तब तो उसका ठीक होना बड़ा कठिन है। और इस राजयक्ष्मा रोग से जुड़ा हुआ एक अन्य रोग है कोढ़। वैसे तो उनका आपसी सम्बन्ध समझ में नहीं आता, क्योंकि शरीर के सन्दर्भ में इस सम्बन्ध का कोई तुक नहीं, पर मन के सन्दर्भ में ये दोनों गहराई से जुड़े हुए हैं। कैसे ?

परसुख देखि जरनि सोइ छई।
कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥ ७/१२१/३४

मन की कुटिलता और दुष्टता ही मन का कोढ़ है और दूसरों के सुख को देखकर जलना ही उसका राजयक्ष्मा है। पहले तो मन्थरा में लोभ तथा ईर्ष्या की वृत्ति है। श्रीराम के राज्याभिषेक का समाचार सुनकर उसका हृदय राजयक्ष्मा से जलने लगा फिर उसके बाद उसके मन को कोढ़ भी हो गया। अगर मन्थरा यह सोचकर शान्त हो जाती कि राम को राज्य मिले या चाहे जिसको मिले, मुझे क्या लेना-देना है। यह भी एक विवेक की बात होती। और अगर उसे ईर्ष्या हो ही गई, तो मन में यह भी सोच लेती कि राम को राज्य मिल रहा है, बुरा तो लग रहा है, पर मैं कर ही क्या सकती हूँ, इसे रोकना तो मेरे बस की बात नहीं हैं; तो भी बुराई आगे वहीं बढ़ पाती। परन्तु उस राजयक्ष्मा के साथ कोढ़ ने मिलकर अयोध्या में एक असाध्य रोगी उत्पन्न किया, जिससे रामराज्य में बाधा उत्पन्न हो जाती है। गोस्वामीजी कहते हैं –

करइ बिचारु कुबुद्धि कुजाती।
होइ अकाजु कवनि बिधि राती॥ २/१३/३

अब एक रात बची हुई है, क्या उपाय करूँ कि राम सिंहासन पर न बैठ सकें। योजना बनाती है। कितनी भयंकर षडयंत्रकारिणी थी

वह। और इतना ही नहीं, उसकी कुटिलता और दुष्टता पराकाष्ठा तक पहुँच जाती है, जब वह जाकर कैकेयी से कहती है – राजा से केवल यही वरदान न माँगना कि भरत को राज्य मिले। क्यों ? क्योंकि भरत को राज्य मिलने पर केवल आपको आनन्द ही तो मिलेगा, पर इससे कौशल्या को दुख तो नहीं मिलेगा। आनन्द तो तभी आएगा, जब हमें आनन्द और कौशल्या को दुख मिले। इसलिए –

दुइ बरदान भूप सन थाती।
मागहु आजु जुड़ावहु छाती॥

और साथ ही कह दिया –

सुतहिं राजु-रामहि बनवासू।
देहु लेहु सब सवति हुलासू॥ २/२/५-६

मन्थरा कहना चाहती है कि कौशल्या बड़ी प्रसन्न हो रही हैं, बड़ा उत्सव मना रही हैं, बड़ा दान बाँट रहीं हैं, उन्हें भी जरा सबक सिखाना है, इसलिए ऐसा वरदान माँगिए जैसा मैं कह रही हूँ। यही है राजयक्ष्मा के साथ कोढ़। ईर्ष्या वृत्ति के साथ दुष्टता का योग और वह इस सीमा तक पहुँच जाती है कि वह केवल अपने लोभ की पूर्ति ही नहीं चाहती, बल्कि दूसरे को लाभ से वंचित करके उसे उत्पीड़ित भी करना चाहती है। ये रोग कैकेयी में नहीं है, पर रोगी मन्थरा के पास वे थोड़ी देर बैठ गयीं और वह सारा रोग ज्यों-का-त्यों कैकयी में आ गया, तो ये रोग संक्रामक भी हैं।

इस प्रकार ये जो लोभ, ईर्ष्या और कुटिलता रूपी मन के रोग हैं, ये ही रामराज्य में व्यवधान उत्पन्न कर देते हैं और आज के समाज में भी यह रोग अत्यन्त व्यापक रूप में फैला हुआ है। रामचरितमानस में भगवान श्रीराम और श्रीभरत के चरित्र के माध्यम से उसकी जो चिकित्सा प्रस्तुत की गई है, उसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

वराह चरित

स्वामी प्रेमेशानन्द

(श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में अनेक अवतारों पर चर्चा हुई है। इनमें से कुछ पौराणिक हैं और कुछ ऐतिहासिक। इन कथाओं के अनुशीलन से हमें आनन्द तथा उपयोगी शिक्षाओं की प्राप्ति होती है, और साथ ही इनमें हिन्दू समाज के उत्थान-पतन विषयक इतिहास के स्पष्ट सूत्र भी हमें प्राप्त होते हैं। रामकृष्ण संघ के वरिष्ठ संन्यासी ब्रह्मलीन स्वामी प्रेमेशानन्दजी ने अपनी सुललित बँगला भाषा में इन्हें 'दशावतार-चरित' नाम से एक पुस्तिका के रूप में लिखा था, जिसका अनुवाद हम 'विवेक-ज्योति' के पृष्ठों में क्रमशः प्रकाशित करने जा रहे हैं। - स.)

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना
शशिनि कलंककलेव निमग्ना
केशव धृत-शूकररूप
जय जगदीश हरे ॥

– १ –

ब्रह्मा ने सर्वप्रथम अपनी इच्छा के अनुरूप सनक आदि कई मुनियों की सृष्टि की। उन्हें ब्रह्मा का मानसपुत्र कहते हैं। वे भगवान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं जानते। लज्जा, घृणा, भय अथवा कोई स्वार्थ उनमें न था। वे लोग शिशु के समान सर्व बन्धनों से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक तीनों लोगों में भ्रमण किया करते थे।

घूमते घूमते एक दिन वे वैकुण्ठ लोक में जा पहुँचे। वैकुण्ठ के बाहर की शोभा देखकर उनके शिशुवत् हृदय में बड़ा आनन्द उत्पन्न हुआ। वे लोग भीतर प्रविष्ट होकर श्री हरि का दर्शन करने चले। परन्तु वैकुण्ठ के द्वारपाल जय तथा विजय ने उनका रास्ता रोक दिया। बालक-स्वभाव मुनियों द्वारा बाधा को न मानकर

भीतर जाने का प्रयास करने पर जय तथा विजय ने उन पर बेत से प्रहार किया। उन लोगों ने बच्चों के समान नाराज होकर द्वारपालों को बुरा-भला कहा और अभिशाप दिया, "तुम दोनों बैकुण्ठ के द्वारपाल होने के योग्य नहीं हो। तुम्हारा पतन हो।"

अभिमान से मन थोड़ा मलिन होने के बावजूद जय तथा विजय थे तो भगवान के ही द्वारपाल! मुनियों का अभिशाप सुनते ही उन्हें होश आया। दोनों भयभीत होकर मुनियों के चरणों में पड़ गए और क्षमा माँगने लगे। इसी बीच अन्तर्यामी श्री हरि ऋषियों – अपने प्रिय भक्तों के अपमान की बात जानकर स्वयं ही बाहर निकल आए। उन्हें पाते ही मुनियों में से कोई उनके चरणों में जा पड़ा, किसी ने उनका हाथ पकड़ा और कोई उनकी गोद में चढ़ गया – मानो मातृहीन बच्चों को उनकी माँ मिल गई हो। श्री हरि उनका प्रेम देखकर, आनन्दपूर्वक अपने चारों हाथों से मुनियों के सिर सहलाने लगे। जय तथा विजय बैकुण्ठ से प्रताड़ित होने के भय से काँपने लगे।

मुनियों के किंचित शान्त होने पर श्री हरि उन्हें स्नेहपूर्वक भीतर ले गए और बोले, "मेरे द्वारपालों ने तुम्हारे साथ बड़ा ही अनुचित व्यवहार किया है। अपने पुण्यों के फल से वैकुण्ठ में आकर इन लोगों को बड़ा गर्व हो गया था और उसके उपयुक्त सजा भी उन्हें मिल गई है।"

साधु का क्रोध पानी के दाग के समान होता है। अब तक मुनिगण अपने क्रोध की बात भूल ही चुके थे, परन्तु जय व विजय के दुःख से वे लोग बड़े दुखी हुए। श्री भगवान को छोड़कर पाप-ताप-मोहमय जगत में लौट जाना – इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती हैं? परन्तु ऋषियों की वाणी को विफल करने का कोई उपाय नहीं। उन्हें वैकुण्ठ छोड़कर जाना ही होगा। मुनियों ने श्री हरि से कहा, "प्रभो, ऐसी व्यवस्था कीजिए कि

जिससे ये लोग शीघ्र ही आपके पास लौट आएँ।" श्री हरि ने कहा, "इन लोगों ने साधनाएँ तो बहुत की हैं, परन्तु अहंकार नहीं छोड़ सके हैं। और भी सात जन्म तपस्या किए बिना इनका यह अहंकार जानेवाला नहीं है।" सात जन्मों की बात सुनकर जय तथा विजय आकुल होकर रोने लगे; उनका दुःख देखकर मुनियों को भी रुलाई आ गई। वे लोग कहने लगे, "प्रभो, एक बार जिसे तुम्हारे चरणों का आश्रय मिल चुका है, उसके लिए तुम्हारा विरह कितना कष्टदायी होगा, क्या तुम नहीं समझ सकते ? एक दिन, दो दिन नहीं, सात जन्मों तक तुम्हें छोड़कर रह पाना भक्त के लिए असम्भव है। तुम इच्छामय हो, इनकी सजा को कम कर दो।" भगवान ने जय-विजय से कहा, "तुम लोग शत्रुभाव लेकर मनुष्य लोक में जाओ। शत्रुभाव बड़ा प्रबल होता है; लोग शत्रु के बारे में जितना सोचते हैं, उतना मित्र के बारे में नहीं सोचते। इस भाव से तीन जन्मों में ही तुम लोगों का अभिमान दूर हो जाएगा। प्रति बार मैं अपने हाथ से तुम्हारा वध करूँगा।"

जय-विजय ने सत्ययुग में हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु, त्रेता में रावण तथा कुम्भकर्ण और द्वापर में शिशुपाल तथा दन्तवक्र के रूप में जन्म ग्रहण किया। श्री हरि ने स्वयं ही लीलामय रूप धारण करके उनका वध किया।

— २—

महर्षि कश्यप की दिति और अदिति नाम की दो पत्नियाँ थीं। अदिति के गर्भ से आदित्य अर्थात देवताओं ने और दिति के गर्भ से दैत्यों ने जन्म ग्रहण किया। दिति का स्वभाव विशेष अच्छा न था। उनके दो जुड़वा सन्तान पैदा हुए, जिनका नाम हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु रखा गया। वे दोनों बचपन से बड़े शैतान थे। उनके भय से मुहल्ले के लड़के घर से बाहर तक नहीं निकलते थे। वे दोनों बड़े क्रोधी तथा झगड़ालू थे, उनका शरीर लोहे के समान

कठोर था, उनमें हाथी का-सा बल था और नाराज हो जाने पर खून-खराबी कर बैठना उनके लिए साधारण बात थी। ज्यों ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गई, त्यों त्यों वे और भी भयंकर होते गए। दया-धर्म की तो बात ही नहीं, मार-काट ही उनका नित्यकर्म हो उठा। केवल अपने गाँव के लोगों को परेशान करके उन्हें तृप्ति नहीं हुई, अतः वे देश देश के लोगों पर अत्याचार करते हुए घूमने लगे। राज्य के सभी गुण्डे-बदमाश उनके साथ आ मिले। धीरे धीरे उनका एक अच्छा-खासा दल तैयार हो गया और वे लोग सबके ऊपर यथेच्छा शासन चलाने लगे। अन्य राजाओं के राज्य छीनकर उन लोगों ने एक विराट् साम्राज्य की स्थापना की।

युद्ध में शरीर के क्षत-विक्षत हो जाने से युद्ध का मजा किरकिरा हो जाता है। इसीलिए हिरण्याक्ष अपने शरीर को अमर करने के लिए तपस्या में जुट गया। असुरगण सृष्टिकर्ता ब्रह्मा तथा संहारकर्ता शिव की भक्ति तो करते थे, परन्तु प्रेममय श्रीहरि के प्रति उनके मन में प्रीति न थी। हिरण्याक्ष ने ब्रह्मा की आराधना करके उन्हें सन्तुष्ट किया। ब्रह्मा के वर देने की इच्छा व्यक्त करने पर उसने अपना शरीर अमर कर देने का अनुरोध किया। परन्तु ब्रह्मा बोले, "शरीर भला कैसे अमर हो सकता है ? यह तो पंचभूतों की समष्टि है। मैं तुम्हें यही वर देता हूँ कि किसी अस्त्र से तुम्हारे शरीर को चोट नहीं पहुँचेगा।" हिरण्याक्ष ने सोचा कि शरीर पर अस्त्र का चोट न पहुँचने पर, फिर तो युद्ध में पराजित होने का भय नहीं है; वह इसी के लिए तो अमर होना चाहता था। अतः यही वर पाकर उसकी खुशी का ठिकाना न रहा।

हिरण्यकशिपु राज्य के शासन में ही व्यस्त रहा। और हिरण्याक्ष भयानक गुण्डागीरी करते हुए घूमने लगा। जहाँ भी उसे किसी बलवान आदमी के होने की सूचना मिलती, वह वहीं जा पहुँचता। उसका सामना करने की भला किसमें सामर्थ्य थी ;

जिसके साथ भी उसका युद्ध होता, उसकी मृत्यु निश्चित थी। किसी भी अस्त्र का चोट उसके शरीर पर नहीं लगता था, अतः अन्य लोग उसका कोई अनिष्ट नहीं कर पाते थे। इसी प्रकार मानवलोक पर विजय प्राप्त करने के बाद वह लोहे की एक भीषण गदा लिए हुए देवलोक में जा पहुँचा। उसने सोचा था कि मनुष्य तो सहज ही मर जाते हैं, परन्तु देवता अमर हैं, अतः यहाँ पर उन लोगों के साथ युद्ध का थोड़ा आनन्द ले सकूँगा। परन्तु बुद्धिमान देवताओं ने पहले से ही उसके सामने हथियार डालकर गदा के आघात से स्वयं को बचाया। ऐसे आदमी के साथ भी क्या युद्ध किया जा सकता है!

अब युद्ध के अभाव में उसकी नसें ऐसी फड़कने लगीं कि युद्ध किए बिना उसका जीना हराम हो गया। किसी ने उसे सुझाया, "तुम हिमालय के साथ युद्ध करो।" इसलिए वह हिमालय के शरीर पर अपनी गदा से आघात करके थोड़ा विश्राम करने लगा। गदा के आघात से पर्वत टूटकर चूर्ण-विचूर्ण होने लगा। तब हिमालय के अधिष्ठातृ देवता ने बाहर आकर उससे कहा, "ओ दैत्य, काष्ठ-मिट्टी के साथ युद्ध करना भी क्या किसी वीर को शोभा देता है? तुम समुद्र में वरुण देवता के पास जाओ, वहाँ तुम्हारी युद्ध की पिपासा मिट जाएगी।"

हिरण्याक्ष तब हिमालय छोड़कर सागर के पास गया। हिरण्याक्ष के गदाघात से सागर का जल विक्षुब्ध हो उठा। मछलियाँ भयभीत होकर पलायन करने लगीं। सागर के राज्य में महा हलचल मच गई। समुद्र के देवता वरुण सागरतल से बाहर आकर बोले, "अरे मूर्ख, तू क्यों व्यर्थ ही इन छोटी-मोटी मछलियों को भय दिखा रहा है? यदि तुझे सचमुच ही युद्ध करने की साध है, तो तू पाताल में जा। वहाँ वराहरूपी श्री हरि के पास तेरा गर्व दूर हो जाएगा।"

श्री हरि का नाम उसने पहले भी सुन रखा था। जब भी वह किसी दुर्बल पर अत्याचार करता, तभी उसे कहते सुन पाता, "ठीक है जा, श्री हरि तो हैं ही।" वह नाम सुनते ही उसके प्राण ईर्ष्या से जल उठते और वह सोचता कि बस एक बार उसे पा जाऊँ तो देख लेता। परन्तु अब तक उसे श्री हरि का पता नहीं मिल पाया था, आज वरुण के मुख से वह पाकर उसका उत्साह प्रज्ज्वलित हो उठा। उसे लगने लगा मानो श्री हरि को उसने अभी से पीस डाला है। वह उन्मादी के समान पाताल की ओर दौड़ चला।

– ३ –

पृथ्वी का उत्तर मेरु थोड़ा झुककर सूर्य के चारों ओर घूमता है। इसीलिए दक्षिण का समुद्र महासागर है और उत्तर का प्रदेश महादेश है। एक बार किसी कारणवश पृथ्वी का उत्तरी मेरु थोड़ा अधिक झुक गया। इसके फलस्वरूप सागर की जलराशि ने स्थल भाग को डुबा दिया। सभी जीव-जन्तुओं की मृत्यु हो गई; केवल उच्च पर्वत शिखरों पर दो-चार मनुष्य बड़े कष्टपूर्वक बच रहे।

सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने अपने प्रधान इंजीनियर विश्वकर्मा की सहायता से पृथ्वी का उद्धार करने का बड़ा प्रयास किया; परन्तु कोई फल नहीं निकला। तब ब्रह्माजी ने श्री हरि की शरण ली। श्री हरि ने एक विराट शूकर का रूप लेकर पृथ्वी को अपने विशाल दाँतों में फँसाकर धीरे धीरे खींचा और उसे पूर्ववत कर दिया। तब सारा जल दक्षिणी महासागर में चला गया और उत्तर के ग्राम-नगर बाहर आ गए। श्वेत वराह जलमग्न पृथ्वी का उद्धार करने के बाद पाताल में जाकर विचरण करने लगे।

– ४ –

हिरण्याक्ष हरि को ढूँढ़ते हुए पाताललोक जा पहुँचा। वहाँ विशाल दन्तवाले दीर्घकाय श्वेतवर्ण शूकर तथा उसके विशाल उज्ज्वल नेत्र देखकर प्रथमतः तो वह अवाक् रह गया तदुपरान्त युद्ध करने का एक अच्छा मौका हाथ आया देखकर वह उच्च स्वर में बोल उठा, "वाह ! शूकर तो जल में चर रहा है।" उसकी आवाज सुनते ही वराह इतनी तीव्र गर्जना कर उठे कि ग्रह-नक्षत्र सह पूरा ब्रह्माण्ड कम्पित हो उठा। उनके दोनों नेत्रों से मानो आग की चिनगारियाँ निकलने लगीं। उन्हें देखकर ऐसा लगता था मानो जगत् का सारा क्रोध मूर्तिमान हो उठा है। हिरण्याक्ष को समझते देर न लगी कि इतने दिनों की उसकी युद्ध की पिपासा दूर होने का सुअवसर आ पहुँचा है।

हिरण्याक्ष ने उछलकर अपनी बृहत् लौह गदा शूकर के सिर पर चला दी। शूकर के थोड़ा पीछे हट जाने से उसकी गदा वराह के दाँत से लगकर चूर-चूर हो गई। अब दोनों के बीच धक्कामुक्की आरम्भ हुई। उनके पदाघात से पृथ्वी दोलायमान हो उठी। नोंच-काटकर दोनों एक-दूसरे का रक्तपात करने लगे। उनके रक्त से भूतल पर कीचड़ ही कीचड़ हो गया। इस कीचड़ से जहाँ शूकर को सुविधा हुई, वहीं हिरण्याक्ष को घोर असुविधा होने लगी।

हिरण्याक्ष को इस जन्म में अब तक बराबरी का योद्धा नहीं मिला था, परन्तु आज शूकर के समक्ष उसके जीतने की आशा कम थी। उसके शरीर का रक्त क्रोध से गरम होकर मानो उबलने लगा। सहसा वह विराट् शूकर उसके नाक से होकर शरीर के भीतर प्रविष्ट हो गया। इस पर क्रोध से हिरण्याक्ष की जो अवस्था हुई, उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। मानो अपने हृत्पिण्ड को निकालकर ही उसे शान्ति मिलती ! लीलामय भगवान इसी प्रकार अपने भक्त के साथ क्रीड़ा कर रहे थे !

वराह के पुनः बाहर आने के बाद दोनों के बीच और भी घोर युद्ध होने लगा। दोनों के शरीर से रक्त की धारा बह रही थी, लगता था कि दोनों के पदचाप से पृथ्वी कक्षच्युत हो जाएगी और ऐसा होने पर निखिल ब्रह्माण्ड का ही ध्वंश हो जाएगा। देवतागण अन्तरिक्ष में खड़े भयभीत होकर काँपने लगे। इधर सन्ध्या भी हो चली थी। ब्रह्माजी ने चिल्लाकर कहा, "प्रभो, सन्ध्या हो गई है; सन्ध्या के समय असुरों की शक्ति बढ़ जाती है, इसका अभी संहार कर डालिए।" तब वराह ने अपने व्रजसम तीक्ष्ण दन्त से दैत्य का हृदय विदीर्ण कर डाला। रक्त की मानो नदी बह चली। काफी देर तक हाथ-पाँव पटकने के बाद असुर ठण्डा हो गया। स्वर्ग के देवता आदि-वराह की जयध्वनि के साथ पुष्पवृष्टि करने लगे।

— ५ —

पृथ्वी का उद्धार हुआ। बिना अस्त्र के ही हिरण्याक्ष का वध हुआ। देवतागण अपने अपने स्थान पर चले गए। परन्तु श्री हरि ने अपना शूकर रूप नहीं छोड़ा। वे कीचड़ में जाकर आनन्द करने लगे। एक शूकरी भी आकर उनके साथ रहने लगी। क्रमशः उनके बहुत से बच्चे-कच्चे हुए और उनका एक बहुत बड़ा परिवार बन गया। वे अपने दल-बल के साथ लोकालोक पर्वत पर जाकर निवास करने लगे।

इधर वैकुण्ठ में विश्वपति की अनुपस्थिति से समस्त कार्यों में बड़ी विश्रृंखला आ गई। ब्रह्माजी उन्हें ढूँढते हुए लोकालोक पर्वत पर पहुँचे और वहाँ का माजरा देखकर अवाक् रह गए। बड़े कष्टपूर्वक अपनी हँसी रोककर वे श्री हरि की स्तुति करने लगे। परन्तु उन रक्तवर्ण चतुर्मुख हंसवाहन को देखकर श्री हरि भयपूर्वक अपने बाल-बच्चों के साथ भागने लगे। ब्रह्माजी हँसते हुए शिव के

पास गए। शिवजी ने सब कुछ सुनकर कहा, "यह तुम्हारे समान साधु व्यक्ति का कर्म नहीं है। चलो, मैं तुम्हें दिखाता हूँ।"

शिवजी ने हाथी के समान सूँड़ तथा दन्तधारी आठ पाँवोंवाले एक विशेष जन्तु का वेश धारण किया और लोकालोक पर्वत पर जाकर गर्जन करने लगे। आदिवराह ने इससे भड़ककर उन पर आक्रमण कर दिया। दोनों में खूब युद्ध हुआ। तब अष्टपदी (शिव) ने वराह के शरीर में अपने दाँत घुसाकर उसे चीरकर दो टुकड़े कर डाला। इसके बाद श्री हरि उस मृतदेह को त्यागकर शिवजी के साथ खिलखिलाकर हँसते हुए स्वर्ग चले गए।

अब भी पितृपुरुषों के श्राद्ध के अवसर पर घर घर में उन्हीं आदिवराह के रूप में श्री हरि की पूजा हुआ करती हैं।

(आगामी अंक में नृसिंह-चरित)

आत्मविचार

तुम सब सिंहस्वरूप हो;
तुम आत्मा हो, शुद्धस्वरूप, अनन्त
और पूर्ण हो। जगत् की महाशक्ति तुम्हारे
भीतर है। 'हे सखे, तुम क्यों रोते हो ? जन्म-मरण
तुम्हारा भी नहीं है और मेरा भी नहीं। क्यों रोते हो ?
तुम्हें रोग-शोक कुछ भी नहीं है, तुम तो अनन्त आकाशस्वरूप
हो; उस पर नाना प्रकार के मेघ आते है और कुछ देर
खेलकर न जाने कहाँ अन्तर्हित हो जाते हैं; पर
वह आकाश पहले के समान ही नीले का
नीला रह जाता है।' इसी प्रकार के
ज्ञान का अभ्यास करना होगा।

– स्वामी विवेकानन्द

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(पैंतालीसवाँ प्रवचन)

स्वामी भूतेशानन्द

(स्वामी भूतेशानन्दजी रामकृष्ण मठ / मिशन, बेलुड़ मठ के महाध्यक्ष है। उन्होंने पहले बेलुड़ मठ में तथा बाद में रामकृष्ण योगोद्यान मठ, काकुड़गाछी, कलकत्ता में अपने नियमित साप्ताहिक सत्संग में 'श्रीरामकृष्ण-कथामृत' पर धारावाहिक रूप से चर्चा की थी। उनके इन्हीं बँगला प्रवचनों को संग्रहित कर बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है। इस प्रवचन-संग्रह की उपादेयता को देखकर हम भी इसे धारावाहिक रूप में यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं। हिन्दी रूपान्तरकार हैं श्री राजेन्द्र तिवारी, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। -सं.)

ईश्वर सबको यन्त्रारूढ़ की भाँति चला रहे हैं – पूर्व का यह प्रसंग इस परिच्छेद में भी चल रहा है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "मैं तो मूर्ख हूँ, कुछ जानता, नहीं, तो यह सब कहता कौन है ? मैं कहता हूँ, 'माँ, मैं यंत्र हूँ, तुम यंत्री हो, जैसा बुलवाती हो, वैसे ही बोलता हूँ।' ईश्वरीय शक्ति के सामने मनुष्य खर-पतवार है।" गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिखा दिया कि उन्हीं की इच्छा से सब चल रहा है।

कर्तृत्त्वबोध अज्ञानजन्य है

भाग्य के अधीन सब हो रहा है या फिर मनुष्य की स्वाधीन इच्छा है – इस प्रश्न को लेकर दर्शनशास्त्र में प्रबल तर्क हैं, विभिन्न लोगों के विभिन्न मतवाद हैं। श्रीरामकृष्ण इस सम्बन्ध में कहते हैं कि जब तक हम उनकी इच्छा को जान नहीं पाते, जब तक हममें कर्तृत्त्वबुद्धि रहती है, तब तक सोचते हैं कि हम कर रहे हैं। वह कर्तृत्व अज्ञानजनित है। सीमित दृष्टि से देखता हूँ कि देह-इन्द्रियादि के द्वारा कर्म अनुष्ठित हुआ है, इसलिए 'मैं' अभिमान करके कहता हूँ 'मेरा' कर्म है। किन्तु दूसरी ओर, जो जड़, चेतन, सर्वत्र ईश्वर को व्याप्त देख रहे हैं, उनकी दृष्टि में, न केवल ईश्वर की इच्छा से सब हो रहा है, बल्कि जिनको लेकर

सब घटनाएँ हो रही हैं, वे सभी उनको छोड़कर और कुछ नहीं है। अज्ञानाच्छन्न मोहग्रस्त मनुष्य अन्तर्यामी नियन्ता को न देख पाने के कारण ही 'मैं', 'मेरा' आदि सोचता है। ज्ञानी की दृष्टि से देखने पर पता चलेगा कि वे ही कर्ता और वे ही भोक्ता हैं।

'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता

नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता।' बृ.उ. ३/७/२३

– उन्हें छोड़कर अन्य कोई न श्रोता है, न द्रष्टा है, न मन्ता है, और न विज्ञाता है।

जगत प्रपंच का बोध रहने पर ज्ञानी को दिखाई देगा कि एक सुन्दर नाटक चल रहा है, जिसकी सभी भूमिकाओं में एक परमेश्वर ही अभिनय कर रहे हैं – साँप होकर काट रहे हैं और ओझा होकर झाड़ रहे हैं। अच्छे में, बुरे में, शत्रु में, मित्र में, दुष्ट में, शिष्ट में – सबके भीतर वे ही हैं। वे ही सब हैं। यह बोध हो जाने पर मनुष्य का कर्तृत्वबोध चला जाता है, भगवान के ऊपर ऐसा दोषारोपण नहीं होता कि उन्होंने एक दुःखमय संसार की सृष्टि की है और हम दुःख-सागर में गोते खा रहे हैं। हम लोग कौन हैं ? उन्हें छोड़कर क्या कोई और हैं ? मोहाच्छन्न मनुष्य स्वयं को भगवान से पृथक समझकर अपने को सुखी या दुःखी मानता है और इन सबके नियन्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना करके उन पर दोषारोपण करता है। नाच की कठपुतली यदि अपने बारे में यह जान पाती कि वह स्वयं नाच रही है तो वह सोचती कि मैं कितना सुन्दर नाच रही हूँ, इसीलिए तो लोग वाह-वाह कर रहे हैं। उसके पीछे जो एक व्यक्ति धागा पकड़कर नचा रहा है, तब यह अनुभव न रहने के कारण लगता कि वह स्वयं को कर्ता समझकर अपने को प्रशंसा के योग्य समझती है।

या तो उनकी इच्छा, नहीं तो मेरी स्वतन्त्रता – यही समझकर काम करना होगा। जब तक मैं साधन-भजन करता हूँ,

मेरी इच्छा है, इसलिए करता हूँ। जिसमें कर्तृत्त्वबोध है, उसी से कहा जा सकता है – 'साधना करो'। यह अधिकार-विचार मीमांसा के मतानुसार एक सूक्ष्म विचार है। शास्त्र जब कहते हैं, 'साधना करो', तो समझना होगा कि उसमें करने की सामर्थ्य या अधिकार है। यदि कर्तृत्त्व हो, तो फिर 'सब ईश्वर की इच्छा से हो रहा है' कहने में कोई सार्थकता नहीं रहती। विचार के द्वारा यही सिद्धान्त निश्चित हुआ है, 'मैं कर्ता हूँ' – यह बोध रहते शास्त्र का निर्देश हम लोगों के लिए प्रयोज्य होगा। जिनमें 'मैं - बोध' नहीं है, शास्त्र उसको नहीं कहेंगे - तुम यह करो। 'मैं अकर्ता हूँ', यह बोध आने पर व्यक्ति शास्त्र के अधिकार के अन्तर्गत नहीं आता। वह शास्त्र का अतिक्रमण कर चुका है। 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः' – तीन गुणों से अतीत जो पथ या सत्ता है, उस पथ पर जो विचरण करते हैं, उनके लिए विधि क्या है और निषेध भी क्या है ? इसीलिए विधि-निषेध तभी तक प्रयोज्य है, जब तक मनुष्य गुणों के अधिकार में हैं। अर्थात कर्तृत्त्वबोध के पार चले जाने के बाद व्यक्ति पर शास्त्र का अधिकार नहीं रह जाता। तब वह जो भी करता है, उसे लगता है कि सभी ईश्वर की इच्छा से हो रहा है।

'मैं स्वतन्त्र हूँ' – यह बोध किस तरह दूर हो सकता है ? एक तो यह सोचने से कि मैं कर्तृत्त्व-शून्य निष्क्रिय आत्मा हूँ। और दूसरा यह भाव रखकर कि सब कुछ भगवान ही कर रहे हैं। जैसा कि भक्त सोचते हैं कि उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। इन दोनों में से किसी भी उपाय से यदि किसी का कर्तृत्त्य - बोध चला जाय, तो वह तीन गुणों से अतीत अवस्थाप्राप्त हो जाता है।

इच्छा स्वाधीन है या पराधीन ? इस विषय पर विचार करते समय हम दो भिन्न स्तरों को एक में मिलाकर विभ्रान्त हो जाते हैं। जब हम कहते हैं कि इच्छा स्वतंत्र है, तब समझना होगा कि

अभी हम जिस स्तर पर हैं, वहाँ कर्तृत्त्व बोध है । ईश्वरानुभूति होने पर 'मैं कर रहा हूँ' – यह बोध नहीं रहता । कभी ऐसा नहीं लगेगा कि मैं कर रहा हूँ । मैं यन्त्र हूँ वे यन्त्री हैं, श्रीरामकृष्ण की यह छोटी सी उक्ति बड़ी गम्भीरता से चिन्तन करने योग्य है । साधारण लोगों को यह बोध होना असम्भव है । जब सर्वत्र उनका अनुभव हो, सभी कर्म के कर्ता के रूप में वे ही दिखाई दें, तब अपना 'मैं' खोजने पर भी नहीं मिलता । जिसे 'मैं' समझा गया था, तब पता चलता है, वहाँ वे हैं, मैं नहीं ।

यह अवस्था अनुभव-सापेक्ष है । युक्ति के द्वारा आज तक प्रमाणित नहीं हो सका है कि मनुष्य स्वाधीन इच्छा के द्वारा प्रेरित होकर चलता है या उनके कर्तृत्व के द्वारा नियन्त्रित होकर चलता है । क्योंकि जिसे प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है कि वह स्वाधीन है, उसके अनुभव को युक्ति के द्वारा, अनुमान के द्वारा बाधित नहीं किया जा सकता । और जो देखते हैं कि ईश्वर की इच्छा से ही सब हो रहा है – उनकी इस प्रत्यक्ष अनुभूति से कोई उन्हें विचलित नहीं कर सकता । जब तक मन-बुद्धि शुद्ध होकर आत्मा की अनुभूति नहीं हो जाती, तब तक इस सत्य की उपलब्धि नहीं होगी । अतः तर्क स्वाभाविक है ।

डॉक्टर सरकार कहते हैं – हम लोग जो भी करते हैं, कर्तव्य समझकर करते हैं; उस कार्य में आनन्द है, ऐसा समझकर नहीं करते । डॉक्टर कहना चाहते हैं कि वे आनन्द को लक्ष्य बनाकर काम नहीं करते । Hedonist (सुखवादी) दार्शनिक कहते हैं कि आनन्द ही हमें कर्म की प्रेरणा देता है । सुख या आनन्द को ही वे कर्म का प्रेरक समझते हैं । कोई कोई इसके विपरीत युक्ति देते हैं, वे कहते हैं, आनन्द लक्ष्य नहीं है । इन सब विचारों का निष्कर्ष क्या होगा ? मनुष्य अपने स्वभाव के अनुसार एक या दूसरे को पसन्द करता है ।

स्वाधीन इच्छा और श्रीरामकृष्ण

इन दोनों मतों के बीच एक बात और है। श्रीरामकृष्ण कहते हैं कि एकदम स्वाधीन न होने पर भी थोड़ी सी स्वाधीन इच्छा उन्होंने मनुष्य को दी है। उसी के अनुसार वह कार्य करता है, परन्तु वह जो चाहे नहीं कर सकता। जैसे खूँटे में बँधी हुई गाय, जितने दूर तक उसके गले की रस्सी जाती है, वह उतने दूर तक घूम-फिर सकती है, उसके बाहर नहीं जा सकती। श्रीरामकृष्ण ने यह दृष्टान्त अन्यत्र दिया है। उन्होंने यह भी कहा है कि मालिक की इच्छा होने पर वे रस्सी को थोड़ा और लम्बा भी कर सकते हैं। अर्थात स्वाधीनता की सीमा बढ़ सकती है, किन्तु नियन्त्रण बना हुआ है। यहाँ आपेक्षिक भाव से स्वाधीनता की बात कही गई, पूर्ण स्वाधीनता है या नहीं, यह नहीं बताया गया। कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुंसमर्थः।

अन्त में, चर्चा के बाद मास्टर महाशय स्वगत में कहते हैं, "बाद में आनन्द मिलता है या साथ-साथ, यह कहना कठिन है। आनन्द के बल पर यदि कार्य होता रहा तो स्वाधीन इच्छा फिर कहाँ रह गई ? अर्थात आनन्दवादियों की भी स्वतन्त्रता नहीं बच सकी। उनका कर्म आनन्द के द्वारा नियन्त्रित हो गया। उसी आनन्द को ईश्वर के रूप में मान लेने पर देखा जाता है कि उन्हीं की इच्छा से सब हो रहा है।

श्रीरामकृष्ण का सिद्धान्त भी ठीक यही है। खूँटे से बँधी हुई गाय की बात वे आपेक्षिक रूप में समझाने के लिए कहते हैं। नियन्त्रण के भीतर भी थोड़ी सी स्वतन्त्रता है, ऐसा न होने पर धर्मोपदेश किसे दिया जाएगा ? उपदेश सुनकर कोई काम में लगा सकता है, इसीलिए शास्त्र उपदेश देते हैं। डॉक्टर ने पहले ही श्रीरामकृष्ण से कहा था, "तो फिर आप इतना बक-झक क्यों करते है ?" श्रीरामकृष्ण का उत्तर बहुत ही सुन्दर है। कहते हैं, "मैं

बक-झक करता हूँ, यह किसने कहा ? मैं तो यन्त्र हूँ। जिम्मेदारी उन्हीं की है, जो यन्त्र को चला रहे हैं, यन्त्र का नहीं।"

चिकित्सक और सेवा

बात चलते चलते डॉक्टरी कर्म की बात उठी। इस विषय में श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "यदि रुपया न लेकर दूसरों का दुःख देखकर कोई दयाभाव से चिकित्सा करे, तो वह महान है, उसका कार्य भी महान है।... डॉक्टरी में यदि निःस्वार्थ भाव से परोपकार किया जाय, तब तो बहुत अच्छा है।" मनुष्य विपत्ति में पड़ा है, डॉक्टर उस पर दबाव डालकर अर्थोपार्जन करता है। इस प्रकार से उपार्जित अन्न अशुद्ध होता है, इसीलिए श्रीरामकृष्ण उसे ग्रहण नहीं कर पाते थे। फिर भी सबके सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं होती। श्रीरामकृष्ण कहते हैं – जो सेवाबुद्धि से यह कार्य करते हैं, उनका कार्य महान है। वस्तुतः स्वार्थबुद्धि से प्रेरित होकर जो कार्य किया जाता है, वह नीच कर्म है। और दूसरों के कल्याण के लिए निःस्वार्थ भाव से किया हुआ उत्तम कर्म सेवा है। संसार के किसी भी कार्य के उच्च-नीच, अच्छे-बुरे का विचार करने के लिए यही एक कसौटी है। डॉक्टर द्वारा मनुष्य के अतिरिक्त अन्य जीवों की सेवा की बात उठाने पर श्रीरामकृष्ण कहते हैं, "जीवों को खिलाना तो साधुओं का काम है।" अभिप्राय यह कि निःस्वार्थ भाव से जीव का कल्याणकारी कर्म ही श्रेष्ठ है।

विजयकृष्ण और स्वामीजी का दर्शन

विजय आए हुए हैं। भक्तों के साथ बातें करते हुए विजय कहते हैं, "न जाने कौन एक सर्वदा मेरे साथ रहते हैं, मेरे दूर रहने पर भी बतला देते हैं कि कहाँ क्या हो रहा है।" नरेन्द्र कहते हैं, "स्वर्गीय दूत के समान।" अर्थात कोई विजय पर निगाह रखता है, सही रास्ते पर ले चलता है। विजय कहते हैं, "मैंने इन्हें (श्रीरामकृष्ण को) ढाके में देखा है। देह छूकर !"

श्रीरामकृष्ण हँसते हुए कहते हैं, "तो वह कोई और होगा।" नरेन्द्रनाथ कहते हैं, "मैंने स्वयं भी इन्हें कई बार देखा है।"

स्वामीजी (विवेकानन्द) ने श्रीरामकृष्ण को इस तरह जो कई बार देखा था, इस बात को उन्होंने अन्य अवसरों पर भी बताया है। एक बार नरेन्द्र अपने घर में रात के समय पढ़-लिख रहे थे, दरवाजे बन्द थे; देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण उपस्थित हैं। इसीलिए कहते हैं, "कैसे कह सकता हूँ कि मुझे आपकी बातों पर विश्वास नहीं होता।" श्रीरामकृष्ण के स्थूल देह में रहते समय और उनके देहत्याग के बाद भी अनेक बार स्वामीजी को उनका दर्शन तथा उपदेश मिला है। यहाँ तक कि उनके व्याख्यानों की विषयवस्तु तक श्रीरामकृष्ण ने उन्हें बता दिया है। स्वामीजी ने यह नहीं कहा कि श्रीरामकृष्ण बता दिया करते थे बल्कि कहा था कि एक जन आकर बतला जाते थे।

श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के चरित्र परस्परपूरक हैं। श्रीरामकृष्ण की अगाध शक्ति स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से व्यक्त हुई है। भगवान का यह आविर्भाव एवं उनके सहकारी के रूप में स्वामीजी का आना, यह एक लोकोत्तर घटना है। हमारी मानवीय बुद्धि इसकी व्याख्या नहीं कर सकती। इसलिए जिसे समझ नहीं सकते, उस पर थोड़ा-बहुत विश्वास करना पड़ता है। भागवत में लिखा है कि श्रीकृष्ण ने पृथ्वी पर अवतार लेने के पूर्व, देवताओं को भी अपने कार्य में सहायता करने के लिए वहाँ अवतीर्ण होने को कहा। जैसा कि श्रीरामकृष्ण ने कहा है, "कलमी का दल" – एक को खींचने से पूरा दल खिंचकर चला आता है। उन लोगों की मानो एक मण्डली है, परस्पर का सम्बन्ध लोकातीत है, जीवों के कल्याण के लिए उनका आविर्भाव हुआ है। "जैसे बाउल साधुओं का दल आया, नाचा-गाया और चला गया।" जगत के लोगों में से किसी को उनके स्वरूप का आभास मिला और कोई उन्हें नहीं पहचान सका। परन्तु उनके

कार्य का प्रभाव दीर्घकाल तक चलता रहता है। स्वामीजी ने कहा है कि श्रीरामकृष्ण के स्थूल देहावसान के उपरान्त विपुल शक्ति सम्पूर्ण जगत में कार्य कर रही है। स्थूल देह में वह शक्ति मानो अपेक्षाकृत सीमित रहती है, परन्तु देहत्याग के उपरान्त सूक्ष्मदेह में उनका कार्य पूरे विश्व में चलता रहता है। वे स्वयं करते हैं और उनके सहकारी भी करते हैं। अनेक प्रकार की अलौकिक घटनाएँ होने के बाद भी, स्वामीजी ने उन सब पर जोर देने को नहीं कहा। क्योंकि उन्होंने अलौकिकता को प्रश्रय नहीं दिया था। उससे मन दुर्बल होता है, वहाँ बुद्धि कार्य नहीं करती, कई बार लक्ष्यभ्रष्ट होने की भी आशंका रहती हैं।

स्वामीजी विजयकृष्ण से कहते हैं, "मैंने भी उन्हें कई बार देखा है।" यह सभा बहुत-कुछ अन्तरंग सभा है। स्वयं की अनुभूत वस्तु पर अविश्वास नहीं किया जा सकता। अपना प्रत्यक्ष अनुभव था, इसीलिए स्वामीजी विजय की बात पर अविश्वास नहीं कर सके। स्मरण रखना होगा कि इतना सब होते हुए भी, वे इस पर जोर देकर चारों ओर प्रचार करने के विरोधी थे। इसीलिए वे भक्तों से कहते कि श्रीरामकृष्ण के जीवन की ये घटनाएँ असत्य नहीं हैं, फिर भी इस पर जोर देकर प्रचार न करो।

उस समय प्रचार नहीं किया गया और अब भी उन बातों पर अधिक जोर नहीं दिया जाता। कोई कोई घटना लीलाप्रसंग में वर्णित हुई है, वह भी बड़े संयत रूप में। स्वामीजी यही चाहते थे कि हमारा विश्वास बुद्धि पर आधारित हो। (क्रमशः)
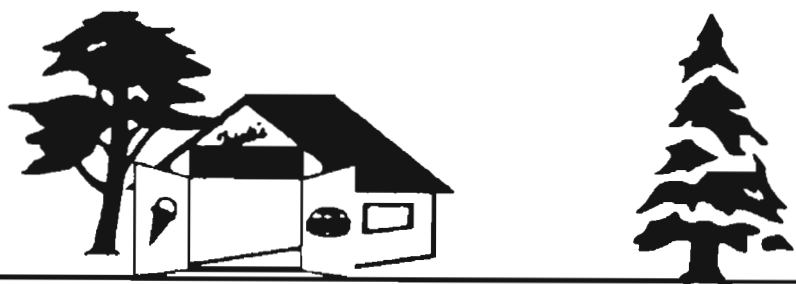
हे विवेकानन्द स्वामी ...

' मधुप '

(केदार- रूपक)

हे विवेकानन्द स्वामी
शान्ति के तुम दूत हो।
देवकाया धर जगत में
विचरते अवधूत हो ॥ हे. ॥

भारती प्रज्ञा सृजन के
फुल्ल कुसुमित चारु वन के।
परम सुन्दर पुष्प के सम
सम्प्रति उद्भूत हो ॥ हे. ॥

धर्म का अमृत पिलाने
मर्त्य अवनी को जिलाने।
सप्तऋषियों के भुवन से
रामकृष्णाहूत हो ॥ हे. ॥

जागरण का तन्त्र देकर
निडरता का मन्त्र देकर।
फिर गए निज धाम को तुम
मनुज पूर्व- अभूत हो ॥ हे. ॥

स्वामी ब्रह्मानन्दजी से वार्तालाप (१)

संकलक : *श्री चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय*

(उपरोक्त प्रेरणादायी वार्तालाप रामकृष्ण संघ के बँगला मुखपत्र 'उद्बोधन' के जून तथा जुलाई, १९९२ अंकों में प्रकाशित हुआ है। 'विवेक-ज्योति' के लिए इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम वाराणसी में सेवारत हैं। -सं.)

भगवान श्रीरामकृष्ण के मानसपुत्र श्रीमत् स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराज १९१९ ई. के जून में भक्तप्रवर स्वर्गीय बलराम बसु महाशय के बागबाजार (कलकत्ता) स्थित भवन में निवास कर रहे थे। उस समय वहाँ बहुत से लोग इन ब्रह्मवित् महायोगी के दर्शन करने और उनसे धर्म-साधना के विषय में उपदेश सुनने के लिए जाया करते थे। महाराज जहाँ भी रहते, वहीं शान्ति एवं आनन्द का अनवरत स्रोत बहता था। संसार के दुख-शोक से कातर कुछ व्यक्ति भी उनके श्रीमुख से करुणापूर्ण सान्त्वना की वाणी सुनकर जीवन की ज्वाला को शान्त करते थे। दुःख-शोक से जर्जरित संसार-सन्तप्त लोग उनकी परम प्रशान्त ज्योर्तिमय आनन्दमूर्ति को देखकर सचमुच ही समस्त दुःख ज्वाला को भूल जाते थे। दूसरी ओर अल्पवयस्क, मुमुक्षु, वैराग्यवान, अविवाहित युवक महाराज के प्रत्यक्ष-अनुभूति-सम्पन्न और प्राणपद उपदेश सुनकर धर्मसाधना और मुक्तिलाभ का मार्ग देख पाते थे। उनके वे सारे उपदेश अब भी अनेक ईश्वरविश्वासी और धर्मान्वेषी लोगों को अभय, आशा और आश्वासन प्रदान कर रहे हैं।

इसी काल में एक दिन बागबाजार के बलराम भवन में अपराह्न के समय एक गृहस्थ व्यक्ति ने महाराज से प्रश्न किया – "महाराज ! भगवान ही यदि समस्त शान्ति के मूल हैं, तो फिर लोग उनको भूलकर संसार के असार विषयों में मस्त क्यों हो जाते हैं ? शान्ति लाभ ही यदि मानव का लक्ष्य हो, तो अधिकांश लोग शान्ति के वास्तविक स्रोत – भगवान को क्यों भूले रहते हैं ?"

महाराज ने उत्तर दिया, "यह सत्य है कि भगवान समस्त शान्ति के स्रोत हैं। ईश्वर-साक्षात्कार करके ही मनुष्य संसार से ऊपर उठकर अमृतत्व प्राप्त करता है। किन्तु यह बात कितने लोग समझ पाते हैं ? जन्म-जन्मान्तर की भोग प्रवृत्ति और कुवासना ही धर्मलाभ की प्रधान बाधा है। सामान्य लोगों के मन के तल में वे ही सब हीन संस्कार जमे हुए हैं। इसीलिए उनका मन मोहग्रस्त होकर सदा चंचल रहता है और केवल भोग के विषय खोजता रहता है। भोग-वासना के संस्कार हैं, इसीलिए नित्य वस्तु की ओर उनका मन नहीं जाता। देह की प्रवृत्ति प्रबल होने के कारण उनका विवेक मानो पत्थर से दबा पड़ा है। अपना कल्याण कैसे हो, शान्ति कैसे हो, यह ज्ञान उनमें बिल्कुल नहीं है। इसीलिए उनका मन सत्स्वरूप की ओर नहीं जाता। उनमें सत्प्रवृत्ति नहीं है, इसीलिए वे ईश्वर को नहीं चाहते।

"यह संसार दुःखमय है। यहाँ सुख बिल्कुल भी नहीं हैं। सुख के छद्मवेश में दुःख यहाँ नाना रूप धारणकर घूमता रहता है। इसीलिए मनुष्य सुखभोग के प्रयास में केवल दुःख ही पाते हैं। वासना ही समस्त दुःखों का मूल है। संसार के इस छलन को पहचानना बहुत कठिन है। जिनमें विवेक-वैराग्य है, वे ही समझ पाते है कि संसार में सुख-शान्ति बिल्कुल नहीं है। उनका मन असार विषय-सुखों की ओर नहीं जाता। वे जानते है कि धन-सम्पत्ति, रुपये-पैसे, मान-यश इत्यादि सभी बन्धन हैं। वे जान गए हैं कि इनमें शान्ति नहीं, बल्कि नाना प्रकार के दुःख और अशान्ति हैं। वे जानते हैं कि संसार का सुख क्षणस्थायी है, वह सुख सच्चा नहीं है। इस सुखभोग का परिणाम विषमय है। इसमें केवल ताप-यन्त्रणा, अशान्ति और मानसिक सन्ताप हैं। शान्ति और कहीं नहीं है। वास्तविक शान्ति केवल एकमात्र उन्हीं ईश्वर में हैं। समस्त भोग-वासना को पूरी तरह त्यागकर जो लोग ईश्वर को पकड़े हुए हैं, वे ही इस दुःख-अशान्ति से छुटकारा पाते हैं।"

भक्त, "महाराज ! ऐसे सर्वत्यागी लोग हैं कहाँ ? संसार में हम देखते हैं कि सभी रुपये-पैसे, धन-सम्पद, भोग-सुख चाहते हैं। भगवान को सचमुच चाहनेवाले तो कोई दिखाई नहीं देते।"

महाराज, "इसीलिए तो संसारी लोग विभिन्न अशान्तियों में जलते रहते हैं। बारम्बार इतना दुःख-कष्ट पाकर भी संसारी लोग ईश्वर को पुकारना नहीं चाहते। भगवान को सचमुच चाहनेवालों की संख्या बहुत कम है। बहुत हुआ तो एक लाख में एक व्यक्ति। अनेक जन्मों के पुण्य और शुभ संस्कार होने पर ही विषय-भोगों के प्रति आसक्ति नहीं होती। हर कोई क्या मुमुक्षु हो सकता है ? भीतर अहकार, दम्भ, स्वार्थपरता रहते भगवान की ओर मन नहीं जाता। रुपये-पैसे, नाम-यश के अहंकार में ही अधिकांश लोग फूलकर मर रहे हैं। रुपयों का मालिक होने पर मनुष्य अहंकार में मानो फट जाता है। धन का अहंकार भयानक है। धन के अहंकार से मनुष्य धरा को ही सब कुछ समझने लगता है। फिर पाण्डित्य का अहंकार भी मनुष्य को कम अन्धा नहीं करता। जिनके भीतर सार पदार्थ नहीं हैं, ऐसे लोग ही पण्डित होकर दूसरे से घृणा करते हैं। इसके अतिरिक्त ईर्ष्या, पर धन-लोलुपता, दूसरे का अनिष्ट करने की इच्छा -. ये दुर्गुण मनुष्य को एकदम पशु बना देते हैं।

"मनुष्य की आकृति मात्र होने से तो मनुष्य नहीं होता। जिसमें ज्ञान, पवित्रता, संयम है, वही ठीक-ठीक मनुष्य है। पहले तो अन्दर जो दुर्गुण हैं, उन पर विजय पाना आवश्यक है। पशु के स्तर से मनुष्य के स्तर पर उठना होगा, तभी तो धर्म भाव आएगा।

"मन में हजार प्रकार की हीन प्रवृत्तियों और कपट को पालकर साधना नहीं की जा सकती। सरलता, संयम, सत्यनिष्ठा के बिना आध्यात्मिक जीवन का कोई मूल्य नहीं। आध्यात्मिक जीवनगठन के लिए दया, प्रेम, स्वार्थ-त्याग इत्यादि की पहले

आवश्यकता है। मन के सरल-पवित्र हुए बिना कितना भी माला फेरो और निरामिष भोजन करो – सारा श्रम व्यर्थ सिद्ध होगा। बाहर से भक्त सजने से तो होगा नहीं, मन-प्राण से भक्त होना होगा। लंगर डालकर नौका चलाने से नौका एक कदम भी आगे नहीं बढ़ेगी। अहंकार, ईर्ष्या स्वार्थपरता – ये सारे जंजाल पहले दूर करने होंगे। जमीन में यदि झाड़-झंखाड़, कंकड़ इत्यादि हो तो ऐसे स्थान में खेती करने से मेहनत पूरी तरह बेकार जाएगी। इसीलिए धर्म-लाभ करने के लिए पहले मन को सरल, पवित्र, निर्मल करना होगा। लोभ-लालसा, आलस्य और ईर्ष्यालु स्वभाव के कारण हजारों लोग साधु होकर भी धर्मलाभ नहीं कर पाते। ईर्ष्यालु, आलसी और पेटू व्यक्ति के लिए साधक होना असंभव है।"

भक्त, "महाराज ! तब फिर हम जैसे लोगों के लिए क्या उपाय है ?"

महाराज, "देखो, वास्तविक धर्मजीवन यापन करना हो तो भोग और योग का घालमेल नहीं चल सकता। विषय-वासना का पूरी तरह त्याग करना होगा। वासना का एक कण भी रहने पर भगवान में मन नहीं लगता। सरल और पवित्र होकर सोलह आना मन-प्राण उड़ेलकर साधन-भजन में डूबे बिना धर्मलाभ असंभव है। अहंकार को पूरी तरह उखाड़ फेंकना होगा। समस्त सुख-भोग की आशा विसर्जित कर केवल ईश्वर में डूब सके बिना कोई उपाय नहीं हैं। जिस कार्य में उन्नति करना चाहते हो, उसी में सदा सोलह आना मन देकर लगे रहना पड़ता है, तभी उस कार्य में सफलता प्राप्त होती है। उसी तरह ईश्वर को पाने के लिए समस्त भोग की आशा दूर करके केवल उन्हीं के ध्यान, उन्हीं के चिन्तन में स्वयं को विस्मृत कर देना होगा। हिसाबी बुद्धि रहने पर इस पथ पर उन्नति करना कठिन है। पैसे इकट्ठा करना बहुत खराब आदत है। जो साधु होकर पैसे जमा करता

है, उसके इहकाल और परकाल – दोनों नष्ट हो जाते हैं। साधन-पथ पर उसकी और प्रगति नहीं होती। इस जन्म में उसका कुछ नहीं हो सकता। या तो संसार या फिर ईश्वर – दोनों में से एक को चुन लो। दोनों कभी एक साथ नहीं हो सकते। विषयों के प्रति आसक्ति और भगवान के प्रति अनुराग दिन और रात के समान बिल्कुल विपरीत चीजें हैं। जहाँ संसार है वहाँ भगवान नहीं और जहाँ भगवान हैं वहाँ संसार नहीं। संसार के सारे सुख-भोग करूँगा और फिर भगवान को भी पाऊँगा – यह कभी भी नहीं हो सकता।"

भक्त, "महाराज, यह सब तो संन्यासियों के लिए ही सम्भव है। जो स्त्री-पुत्रों के साथ संसार में हैं, उनके लिए क्या उपाय है?"

महाराज, "यही बात तो बार बार कह रहा हूँ। त्याग बिना मुक्ति नहीं होती। भोग और योग का घालमेल करने के लिए हम लोग (श्रीरामकृष्ण के सर्वत्यागी शिष्यगण) नहीं आये हैं। हम जानते हैं कि त्याग-संयम के बिना मुक्ति असम्भव है। समस्त हीन संस्कारों पर विजय प्राप्त करनी होगी, तभी मन नित्य वस्तु की ओर जाएगा। मन तो चंचल है ही, विषय-चिन्तन में लगे रहने से वह और चचल हो जाएगा। विषय-भोग से मन के ये सब हीन संस्कार और प्रबल हो उठते हैं। इन सभी हीन संस्कारों को उखाड़ फेंके बिना क्या कोई उपाय है? संसार में एक बार प्रवेश करने के बाद मन को फिर शुद्ध अवस्था में रखा नहीं जा सकता। इसलिये बाल्यकाल से ही साधन में लग जाना चाहिए। कम उम्र से ही साधन-भजन में पूरे मन से लगे रहने पर कुछ होने की सम्भावना है। साधना के अधिकारी वे ही है, जो समस्त कामना-वासना को त्यागकर सर्वदा नित्यवस्तु के चिन्तन में डूब गये हैं। जिनके शुभ संस्कार हैं, वे बाल्यकाल से ही इस ओर जाने की चेष्टा करते हैं। उनके भीतर ही पुकार आती है - कहाँ हैं सद्गुरु? और वे उन्हें ढूँढ निकालते हैं। मानव-जन्म बड़ा

दुर्लभ है। भोग-सुख के नशे में मतवाले होकर ईश्वर को भूलने से मनुष्य-जन्म व्यर्थ चला जाता है। उसी का मानव-जन्म सार्थक है, जो बाल्यकाल से ही उस नित्य वस्तु को पाने के लिए प्राणप्रण से प्रयास करता है।

"संसार सुख नीरस प्रतीत होने के कारण साधक का मन उस ओर नहीं जाता। तब वह ऐसे सद्गुरु को खोजने लगता है, जिन्होंने स्वयं ईश्वर-दर्शन किया हो। तब उसका मन गुरु के पास जाकर साधन-भजन में डूबे रहना चाहता है। जिस-तिस के पास से दीक्षा लेने से क्या होगा ? ब्रह्मज्ञ महापुरुष के अतिरिक्त अन्य गुरु से दीक्षा लेना बेकार है। जिसने आत्मसाक्षात्कार नहीं किया, ईश्वर-लाभ नहीं किया है, वह तो स्वयं ही बद्ध है, फिर वह दूसरे को धर्म क्या सिखाएगा ? अन्धा कभी अन्धे को पथ नहीं दिखा सकता। जिसका गुरु ही अन्धा हो, उस शिष्य की क्या सद्गति हो सकती है ?

"तीन चीजें आवश्यक हैं – मुमुक्षुत्व, सद्गुरु का आश्रय, और सर्वदा सत्य तत्व का ध्यान। लड़कों में से जिनमें भी अच्छे संस्कार और साधन की ओर झुकाव देखता हूँ, उन्हीं को साधन-भजन की अन्तरंग बातें कह देता हूँ। जिनके भीतर सार पदार्थ नहीं है, उन तामसिक लोगों को उपदेश देने से क्या लाभ ? लोग तो बहुत से आते हैं, किन्तु असल धर्मभाव एक-दो व्यक्तियों में ही रहता है। उपदेश सुनकर जो प्राणप्रण से प्रयत्न करते हैं, उन्हें ही उपदेश देना अच्छा लगता है। जो साधन-भजन नहीं करते, यहाँ वहाँ गप-शप करते फिरते हैं, ऐसे सारहीन लोगों को इसीलिए कुछ नहीं कहता। अधिकांश व्यक्ति ही तो अहंकारी, बकवादी और अतिचतुर हैं। एक-दो व्यक्तियों को छोड़, सच्चा वैराग्य और किसी में तो दिखाई ही नहीं देता। ठीक-ठीक भक्ति विश्वास लेकर कितने लोग यहाँ आते हैं ? अधिकांश लोग ही छिछले, हो-हल्ला-पसन्द और विचार-बुद्धिहीन होते हैं।"

भक्त, "महाराज, तब तो ये जो इतने लोग मन्दिरों और तीर्थों में जाते हैं, साधुओं के दर्शन करने आते है, उनके भीतर क्या धर्मभाव नहीं हैं ?"

महाराज, "झुण्ड बनाकर शोरगुल मचाने से धर्मलाभ नहीं होता। ठीक-ठीक धर्म दो-एक लोगों का ही होता है। धर्म नितान्त व्यक्तिगत वस्तु है। जिस-तिस के साथ हो-हल्ला करते हुए इधर उधर घूमना साधक का लक्षण नहीं हैं। साधक धीर स्थिर, एकनिष्ठ तथा अन्तर्मुखी होगा।

"वास्तविक धर्मभाव और कहाँ हैं ? धर्म क्या इतना ही सस्ता है कि हजार हजार लोग केवल मन्दिर मन्दिर घूमने मात्र से ही उसे प्राप्त कर लेंगे ? धर्म क्या बाजार का आलू-परवल है, जो कीमत देकर खरीद लोगे ? Mass (भीड़भाड़) में धर्म नहीं है। वे सब लोग घोर तमोगुणी हैं, साधना में डूबना नहीं चाहते। उनमें धर्म नहीं है, केवल देशाचार और लोकाचार मात्र है। भक्ति-विश्वास अनेक जन्म की साधना के फलस्वरूप होता है। लाखों में से मात्र दो-एक व्यक्तियों में ही धर्मभाव होता है। ये जो इतने लोग उत्सव में आकर आनन्द मनाते है, ठीक ठीक भक्ति-विश्वास इनमें से क्या एक व्यक्ति में भी है ? संसार की हजार वासनाएँ उनके मन पर छाई हुई हैं। वहाँ ईश्वर को कैसे स्थान मिलेगा ? ईश्वर को एक प्रणाम करते समय भी वे उसके साथ दस कामनाएँ जोड़ देते हैं।

"हजारों लोग तीर्थों में घूमते रहते हैं, मन्दिरों में पूजा-पाठ करते रहते है, किन्तु क्या सचमुच उनमें भगवान के प्रति आकर्षण है ? क्या वे सचमुच भगवान को अपने से भी अपना जानकर प्रेम करते हैं ? उत्सव में आकर प्रसाद ग्रहण करके ही कोई भक्त नहीं हो जाता। भक्त होना बहुत कठिन है। जिसके मन में सर्वदा भगवच्चिन्तन का प्रवाह चल रहा है, केवल वही सच्चा भक्त है। जो निरन्तर भगवान का भजन करता है, उसे ही

भक्त कहते हैं। भक्त का केवल एक ही चिन्तन होता है – भगवान, भगवान और भगवान। भगवान ही उसके सर्वस्व होते हैं। उसका सारा मन केवल भगवान में ही डूब गया है। एकमात्र भगवान को छोड़ उसके मन में और कोई भी कामना नहीं रहती। सच्चे भक्त को संसार के सुख जंजाल लगते हैं। भगवान से प्रेम करने के सिवा वह और कुछ नहीं चाहता। यहाँ तक कि स्वर्गसुख और मुक्ति को भी वह स्वीकार नहीं करता। हजारों दु:ख-कष्ट पाकर भी वह भगवान को नहीं भूलता। जितना ही वह दु:ख-कष्ट पाता है, उतने ही अधिक जोर से वह भगवान को पकड़ता है, क्योंकि वह जानता है कि भगवान के अतिरिक्त तीनों लोकों में अपना और कोई नहीं।

"भगवान का स्वाद पाने के बाद क्या और कुछ अच्छा लगता है ? भगवान के साथ जो एकमन, एकप्राण एवं एकध्यान हुआ है, केवल वही भक्त हो सकता है। आजकल वैसी भक्ति, विश्वास, त्याग-वैराग्य कहाँ है ? बाहर भक्ति का दिखावा ओर भीतर कपट ? भीतर जरा भी भक्ति-अनुराग नहीं और इधर अपने को 'भक्त' कहकर परिचय देते फिरते हैं। भगवान पर सोलह आना निर्भर होकर उनके शरणागत होकर पड़े रहना - क्या हर कोई कर सकता है ? ध्रुव, प्रह्लाद, विदुर, शुकदेव, उद्धव आदि महापुरुष ही भगवान के भक्त हैं। भगवान के प्रति भक्ति के लक्षण देखना चाहो तो सनातन गोस्वामी को देखो। ऐसा त्याग, भक्ति, वैराग्य किसी में दिखा सकते हो क्या ? ये जो ठाकुर के कुछ त्यागी सन्तान हैं; उनके जैसा त्याग, वैराग्य, भक्ति विश्वास और कहीं देखा है ?"

भक्त, "महाराज ! ये लोग कितने उन्नत हैं। इनके साथ क्या साधारण लोगों की तुलना हो सकती है ?"

महाराज, "यह सत्य है। इस प्रकार एकनिष्ठ, सर्वत्यागी होकर भगवान को पुकारे बिना उन्हें पाया नहीं जा सकता।

धर्मसाधना का पथ अत्यन्त कठिन है। महामाया की माया के चलते लोग विषयों के फन्दे में ऐसे भूले रहते हैं कि कैसे भी भगवान की ओर जाना नहीं चाहते। पग पग पर कितनी परीक्षाएँ, कितने प्रलोभन, कितनी बाधाएँ, कितने विघ्न आते हैं। इन समस्त प्रलोभनों के साथ प्रतिक्षण लड़ाई करनी पड़ती है। माया के हाथ से बचना बहुत कठिन है। घर-द्वार छोड़ने पर भी मनुष्य माया से रिहाई नहीं पाता। साधु होकर भी लोग साधन-भजन नहीं करना चाहते। ऋषीकेश में देखा है कि साधु लोग सर्वदा बैठे-बैठे गप्पें मार रहे हैं या फिर झगड़ा कर रहे हैं। भगवच्चर्चा, जप-ध्यान आदि का नाम ही नहीं। केवल एक गेरुआ वस्त्र धारण करके हरिद्वार या काशी में रहने से ही क्या ईश्वर लाभ हो जाता है ? कुचिन्तन, कुप्रवृत्ति, लोभ-लालसा को दूर करके सर्वदा ब्रह्मचिन्तन, ध्यान-धारणा में लगे न रह पाने से जीवन दिशाहीन हो जाता है। चाहे कितने ही बड़े महापुरुष से दीक्षा लो, स्वयं को सोलह आने साधन-भजन में निरत रखना होगा। बिना तपस्या के ब्रह्मा की भी मुक्ति सम्भव नहीं। ब्रह्मज्ञ पुरुष से दीक्षा लेने मात्र से ही नहीं होगा, प्राण-पण से साधन-भजन करना चाहिए। इसीलिए बाल्यकाल से ही सच्चिन्तन, सद्विचार, ध्यान-धारणा में पूरे मन से लगे रहना पड़ता है। कर्मफल बड़ा भयानक है। इसी कारण बड़े बड़े महापुरुषों के शिष्य होकर भी बहुत से लोग कुछ भी नहीं कर पाते। भीतर सत्संस्कार न रहे तो गुरु भला क्या करेंगे ? शुद्ध मन से साधन भजन में लगे रहने पर वस्तुलाभ होता है। उपयुक्त गुरु के उपयुक्त शिष्य होने पर ही कार्य साधता है। आन्तरिक पवित्रता ही वास्तविक चीज है। इसीलिए शुद्ध अन्तःकरण में ही आत्मतत्व की अभिव्यक्ति होती है।"

(क्रमशः)

हिन्दू की दृष्टि में धर्म

स्वामी सत्यरूपानन्द

हिन्दुओं के जीवन का सार सर्वस्व धर्म है। इसलिए हिन्दू मनीषियों ने सहस्रों वर्षों तक धर्म पर विचार-विमर्श चिन्तन-मनन और निदिध्यासन किया। साथ ही वे लोग धर्म पर आचरण कर प्रयोग करते रहे। इस प्रकार दीर्घकाल के अभ्यास से हिन्दू मनीषिगण धर्म के मौलिक तत्वों का साक्षात अनुभव कर सिद्ध हुए थे और तब उन्होने धर्म के मौलिक तत्वों को विश्व के सामने रखा। धर्म हिन्दू जीवन का प्राण है। धर्म को शुद्ध रखने के लिए हिन्दू जाति ने महान बलिदान दिये हैं। इतिहास इसका साक्षी है। यहाँ तक कि हिन्दुओं के अवतार भी धर्म की स्थापना के लिए ही हुए हैं। गीता में तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में भगवान श्रीकृष्ण ने घोषणा की हैं –

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्रणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्॥
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ ४/७-८

– हे भारत, जब जब धर्म की हानि और अधर्म का उत्थान होता है, तब तब मैं अवतार लेता हूँ। साधु पुरुषों की रक्षा, दुष्टों का विनाश तथा धर्म की स्थापना करने के लिए मैं युग युग में प्रगट होता हूँ।

भगवान कृष्ण की यह घोषणा हमें यह सोचने के लिये विवश करती है कि यह धर्मतत्व क्या है ? जो इतना महत्वपूर्ण है कि उसकी स्थापना और रक्षा करने के लिए स्वयं 'भगवान को ही अवतार ग्रहण करना पड़ता है। हिन्दुओं की धर्म-सम्बन्धी धारणा पर विचार करने पर धर्म का महान तत्व हमारी आँखों के सामने स्पष्ट हो जाता है।

हमारी दुर्दशा का कारण

व्यक्ति और समष्टि दोनों के आधारभूत इस धर्म की अवहेलना और उपेक्षा करने के कारण ही आज हमारे समाज और देश की यह दुर्दशा हुई है। धर्म की उचित शिक्षा, सम्यक धारणा तथा यथोचित चिन्तन न होने के कारण दुर्भाग्य से हमारे देश के कुछ विद्वान एवं नेतागण भी इस भ्रान्ति में पड़े हैं कि तथाकथित धर्म ही हमारी दुर्बलताओं एवं दोषों का कारण है, जबकि वास्तविकता सर्वथा इसके विपरीत हैं। वस्तुतः धर्म की उपेक्षा एवं अवहेलना ही हमारे दोषों और दुर्बलता का कारण है।

संस्कृति का आधारभूत तत्व

जिजीविषा की भाँति धर्म भी मनुष्य की नैसर्गिक एषणा है। जीने की इच्छा का नाश व्यक्ति का नाश कर देती है। उसी प्रकार धर्मेषणा का नाश व्यक्ति के व्यक्तित्व का ही विनाश कर देता है। धर्महीन व्यक्ति व्यक्तित्वरहित एक प्राणी मात्र ही रह जाता है। ऐसे व्यक्ति का जीवन समाज के लिये अहितकर एवं स्वयं उसके लिये घातक सिद्ध होता है। यही कारण है कि धर्म की अवनति होने पर समाज दुर्बल और व्यक्ति पतित हो जाता है। धर्म ही वह तत्व है जिसके द्वारा व्यक्ति को उन्नत तथा समाज को सुसंगठित किया जा सकता है।

धर्म मानव समाज एवं संस्कृति का आधारभूत तत्व है। इसी तत्व पर संसार का 'शुभ' और 'कल्याण' टिका हुआ है। धर्म की इस महत्ता को हृदयंगम कर लेने के कारण ही हिन्दू दार्शनिकों एवं धर्माचार्यों नें धर्म पर विचार-मंथन और प्रयोग किये तथा वे धर्म के तत्व को अनुभूति द्वारा प्राप्त करने में समर्थ हुए। यही कारण है कि धर्म-सम्बन्धी हिन्दू धारणा वैज्ञानिक, व्यावहारिक तथा तर्कसम्मत है। अतः धर्म के प्रति हिन्दुओ क

दृष्टिकोण समझ लेने पर धर्म और साम्प्रदायिक समस्याओं को हल करना अपेक्षाकृत सहज हो जाता है।

रिलीजन और धर्म

हिन्दुओं की धर्म-सम्बन्धी धारणा पर विचार करने के पूर्व प्रथमत: उन भ्रांतियों का निराकरण कर लेना उचित होगा, जिनके कारण धर्म शब्द ही दूषित होकर विरोधार्थी तथा विकृतार्थी हो गया है। इस विषय में इतनी भ्रांतिमूलक धारणाएँ फैल गई है कि धर्म शब्द का अर्थ और तात्पर्य ही एकदम बदल गया है। धर्म शब्द का अंगरेजी अनुवाद रिलीजन इसका एक बड़ा कारण है। पुण्यभूमि भारत के संपर्क में आने के पश्चात अंगरेजों को हमारे धर्म और गंभीर धार्मिक साहित्य का यत्किंचित परिचय प्राप्त हुआ। हमारे धर्मग्रन्थों की सारगर्भिता से वे लोग बड़े प्रभावित हुए। उनमें से कुछ लोगों ने देवभाषा संस्कृत भी सीख लिया तथा हमारे कुछ ग्रन्थों का अंगरेजी भाषा में अनुवाद भी किया। वे लोग भाषा तो सीख गये, संस्कृत भाषा का अपना शब्द भंडार भी बढ़ा लिया, किन्तु सांस्कृतिक पृष्ठभूमि तथा आध्यात्मिक अनुभूति का आधार न होने के कारण ये अनुवादकगण उन शब्दों के पीछे निहित भावों और तत्वों को ग्रहण न कर सके। उनकी जाति में भारतीय ऋषियों के समान उच्च आध्यात्मिक अनुभूतिसम्पन्न व्यक्तियों की संख्या अत्यन्त विरल रही है, अत: आध्यात्मिक भावों को व्यक्त करनेवाले शब्दों का भी उनकी भाषा में अभाव रहा है। इसके परिणामस्वरूप उन लेखकों ने अपनी भाषा में प्रयुक्त एवं प्राप्त शब्दों द्वारा ही हमारे धार्मिक तथा आध्यात्मिक भावों को व्यक्त करने का प्रयास किया। इसीलिये 'धर्म' शब्द का अनुवाद रिलीजन कर दिया गया। जबकि वह उसका पर्याय नहीं है। कालान्तर में रिलीजन द्वारा प्रतिपादित संकुचित तथा सीमित भाव ही हमारे देश के आधुनिक शिक्षालब्ध लोगों के लिये भी धर्म का पर्याय हो गया। इस संकुचित अर्थ में

धर्म को समझने के कारण ही उसके संबंध में इतनी अधिक भ्रांतियाँ उत्पन्न हुई हैं। किन्तु विगत सौ-डेढ़ सौ वर्षों में हमारे देश तथा हमारी जाति में कई ऐसी महान विभूतियाँ उत्पन्न हुई, जिन्होंने आंग्ल भाषा और साहित्य का, उनकी संस्कृति का गहन अध्ययन किया तथा हमें यह बताया कि धर्म शब्द की महानता और विशालता रिलीजन शब्द द्वारा अभिव्यक्त नहीं की जा सकती।

रिलीजन शब्द के साथ वे भाव जुड़े हैं, जो कि किसी एक सम्प्रदाय विशेष का अनुसरण करने वाले, किसी विशेष पूजा पद्धति, उपासना प्रणाली या विश्वास में आस्था रखकर निर्विवाद रूप से यंत्रवत उसका पालन करनेवाले लोगों के मन और मस्तिष्क में होते हैं। इसी भाव को व्यक्त करते हुए अपनी प्रसिद्ध अंगरेजी पुस्तक 'हिन्दूइज्म ऐट ए ग्लास' में (पृ.१८) विद्वान संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने लिखा है, "धर्म शब्द का अर्थ है किसी 'विश्वास' और पूजा पद्धति में आस्था। किसी सम्प्रदाय विशेष के सिद्धान्तों में विश्वास तथा उसके द्वारा निर्देशित पूजा पद्धति का पालन, किसी भक्त द्वारा इतना ही किया जाना पाश्चात्य जगत में साधारणतः धर्म समझा जाता है। हिन्दुओं का धर्म शब्द रिलीजन की तुलना में कहीं अधिक गम्भीर और विशाल अर्थ रखता है।" (लेखक द्वारा अनुदित)

रिलीजन शब्द द्वारा जिस भाव का बोध होता है वह सीमित एवं संकुचित प्रतीत होता है, जबकि धर्म शब्द के भाव का आवश्यक गुण उदारता एवं महानता है।

रिलीजन और अन्धविश्वास

रिलीजन शब्द से जो सामान्य अर्थ समझा जाता है उसमें किसी एक सम्प्रदाय, विश्वास या उपासना पद्धति पर ही आस्था रखना अनिवार्य हो जाता है। ईश्वर, जगत रचना, विश्व संचालन आदि महत्वपूर्ण दार्शनिक तत्वों पर भी रिलीजन किसी

विशेष भाव या वाद को ही स्वीकार करने का आग्रह करता है। रिलीजन में सन्निहित भावों पर आस्था रखनेवाला व्यक्ति और समाज, इन भावों में आस्था न रखने वाले या रिलीजन विशेष को न माननेवाले व्यक्ति और समाज के प्रति असहिष्णु हो जाता है। यह असहिष्णुता अपने से भिन्न विचारवाले व्यक्ति और समाज के प्रति बैर और घृणा का भाव उत्पन्न कर देता है। इस प्रकार असहिष्णु रिलीजन को माननेवाले लोग अपने से सहमत न होने वाले व्यक्ति और समाज को बलपूर्वक अपने मत का आचरण करने के लिये बाध्य करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखते। इतना ही नहीं, उनके मत को अस्वीकार करनेवाले व्यक्ति और समाज को नष्ट करने में, उसे निर्मूल करने में भी उन्हें द्विधा या संकोच नहीं होता। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है।

नैतिकता के क्षेत्र में भी रिलीजन की संकुचित भावना के कारण विकृति आ जाती है। रिलीजन पर अन्धी आस्था रखनेवाला व्यक्ति और समाज अपने रिलीजन द्वारा दिये गये नैतिकता के नियमों एवं सिद्धान्तों की अन्य किसी भी तर्कसम्मत सिद्धान्तों से तुलना नहीं करना चाहता। उसका आग्रह अपने सिद्धान्तों को बिना तर्क या विचार के स्वीकार करवाने की ओर ही होता है। वह यह सोचना ही नहीं चाहता कि अन्य सिद्धान्त भी सत्य या मूल्यवान हो सकते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह समाज अपने रिलिजन द्वारा प्रतिपादित या घोषित ग्रन्थों, मसीहाओं को ही संसार में अंतिम एवं सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानता है। उनकी तुलना में अन्य सभी धर्मग्रन्थ, अवतार, महापुरुष आदि हेय हो जाते हैं, निन्द्य एवं त्याज्य हो जाते हैं।

इस संकुचित वृत्ति के कारण रिलीजन आत्मा, परमात्मा, परलोक, पुनर्जन्म आदि के प्रति निर्वाक अन्धविश्वास का ही आग्रह करता है। आध्यात्मिक तथ्यों के अपरीक्षणीय स्वरूप पर ही रिलीजन आस्था रखने का आग्रह करता है।

श्री ए.के.बनर्जी अपनी विद्वतापूर्ण और विचारोत्तेजक अंगरेजी पुस्तक 'डिस्कोरसेस आन हिन्दू स्पीरीचुअल कल्चर' में लिखते है, "किसी विशेष धार्मिक सम्प्रदाय को माननेवाले तथा उनके आलोचकों के मन में रिलीजन शब्द के साथ ऐतिहासिक रूप से जो भाव जुड़े हैं वे, वे नहीं है जो हिन्दुओं के धर्म शब्द के साथ संलग्न हैं। रिलीजन जैसा कि वह सामान्य रूप से समझा जाता है, आवश्यक रूप से साम्प्रदायिक प्रतीत होता है। रिलीजन शब्द से एक अति प्राकृतिक जगत रचयिता, नियंता तथा उसका मानवीय भाग्यों से सम्बन्ध आदि विषयों पर एक निश्चित विचारधारा पर अतर्क्य विश्वास करने का भाव परिलक्षित होता है। इस शब्द से किसी मानवेत्तर मसीहा या मसीहों, जिनके विषय में यह धारणा की जाती है कि धर्म के सत्यों का उनके हृदय में उद्घाटन हुआ था, के प्रति जिज्ञासारहित समर्पण तथा विश्वास का भी भाव प्रगट होता है। यह मानव जीवन की अनुभूत आवश्यकताओं की अपेक्षा मानव आत्मा के परलोक सम्बन्धी रुचियों पर ही अधिक बल देता है। ये सभी भाव रिलीजन शब्द के सामान्य अर्थ के साथ जुड़े हैं।।" (पृष्ठ ९१ से अनुदित) उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म शब्द द्वारा अभिव्यक्त असीम, महान, उदात्त एवं उदार भावों को रिलीजन शब्द द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

धर्म और सम्प्रदाय

धर्म के सम्बन्ध में एक दूसरी भ्रांति जो आजकल हमारे समाज में प्रचलित है, वह है साम्प्रदायिकता। कुछ तथाकथित आधुनिकतावादी और स्वयं को प्रगतिवादी कहनेवाले लोग इस प्रकार की धारणा बनाये बैठे हैं कि धर्म का अर्थ ही साम्प्रदायिकता है। तथा जो भी लोग धार्मिक हैं और धर्म का पालन करते हैं वे सभी लोग सामप्रदायिक हैं। और इसलिए रूढ़िवादी एवं संकुचित विचारों के हैं।

धर्म मानो महासागर हैं और सम्प्रदाय हैं नदियाँ, जो विभिन्न स्थानों और दिशाओं से आकर महासागर में विलीन हो एकरूप हो जाती हैं। अब यदि कोई व्यक्ति इन नदियों को ही महासागर समझ ले तथा अन्य सभी लोगों से आग्रह करे कि आप भी मेरी नदी को ही महासागर समझें, क्योंकि इससे भिन्न और कोई महासागर नहीं है तो उस व्यक्ति की बुद्धिमता को आप कौन सी संज्ञा देंगे ?

परम सत्य का साक्षात्कार कर उससे एक हो जाने का नाम धर्म है। इस सत्य के साक्षात्कार के जो विभिन्न मार्ग हैं, पूजा-पद्धति, उपासना, अनुष्ठान आदि व्यवस्थाएँ हैं, उन्हें ही सम्प्रदाय कहते हैं। 'सम्यक् प्रदीयते इति सम्प्रदाय' – गुरु परम्परा से सम्यक् रूप से चली आ रही साधना-पद्धति, आचार-शुद्धि विचार-प्रणाली आदि उपाय, जिससे सत्य की उपलब्धि में सहायता मिलती है, उसका नाम सम्प्रदाय है। अतः सम्प्रदाय धर्म की उपलब्धि का एक उपाय, एक पथ मात्र है। सम्प्रदाय अपने आप में धर्म नहीं है।

सम्प्रदाय को ही धर्म मान लेने के कारण व्यक्ति धर्मान्ध हो जाता है। और एक बार धर्म यदि मनुष्य की दृष्टि से ओझल हो जाय तो उसे पशु बनते देर नहीं लगती। संसार में धर्म के नाम पर जितने भी संघर्ष, अनाचार, अत्याचार आदि हो रहे हैं, वे सब ऐसे ही धर्मान्ध व्यक्तियों द्वारा किये जा रहे हैं, जिन्होंने धर्म के वास्तविक स्वरूप और अर्थ को समझा नहीं है। जिनके जीवन में धर्म की अनुभूति नहीं है, ये ही लोग साम्प्रदायिक हैं तथा इनके द्वारा ही धर्म दूषित और कलुषित हो रहा है।

धर्म का अर्थ और स्वरूप

धर्म शब्द संस्कृत के 'धृ' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है धारण करना। 'धारयति इति धर्मः' – जो धारण करे वह धर्म है। 'यो लोकां धारयति इति धर्मः' – जो लोक को,

व्यक्ति और समाज को धारण कर रखे; उन्हें टूटने और बिखरने न दे वह धर्म है। महर्षि मनु भी धर्म की यही परिभाषा करते हैं 'धारणाद्धर्मः'। वैशेषिक दर्शन में महर्षि कणाद ने धर्म की एक परिपूर्ण परिभाषा दी है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' – जिससे अभ्युदय (सांसारिक उन्नति) तथा निःश्रेयस् (आध्यात्मिक उपलब्धि) प्राप्त हो, वह धर्म है।

स्वामी निर्वेदानन्द अपनी पुस्तक 'हिन्दुइज्म एट ए ग्लांस' में (पृष्ठ १७) में लिखते हैं, "धर्म वह तत्व है, जो किसी वस्तु के अस्तित्व को धारण करता है।"

धर्म की इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट है कि इस जगत के अस्तित्व का आधार ही धर्म है। जिस तत्व में इस वैचित्र्यमय संसार को एक नियमबद्ध समन्वयात्मक रूप में धारण करने की सामर्थ्य है, वह धर्म है। इस दृष्टि से व्यष्टि और समष्टि के अस्तित्व का मूल आधार धर्म है।

जड़ एवं चैतन्य के अस्तित्व का आधार होने के कारण धर्म अनादि और अनन्त है। अतः धर्म न तो प्राचीन है और न ही नवीन, वह तो शाश्वत है, सनातन है। सनातन होने के कारण धर्म अपरिवर्तनशील तत्व है। संक्षेप में सृष्टि, स्थिति और प्रलय का नियमन करने वाला तत्व है।

मनुष्य और धर्म

धर्म के अर्थ एवं स्वरूप पर विचार करने के पश्चात अब यह प्रश्न उठता है मनुष्य के सन्दर्भ में धर्म क्या है ? मनुष्य का धर्म से क्या सम्बन्ध है ? उसके जीवन में धर्म का क्या प्रयोजन है ? इस विषय पर हिन्दू ऋषियों-मनीषियों ने गम्भीर विचार एवं व्यापक प्रयोग किये तथा उन्होंने मनुष्य जीवन और धर्म के रहस्य को ढूँढ़ निकाला।

उन्होंने हमें बताया कि मनुष्य एवं धर्म के सम्बन्ध को समझने के लिए मनुष्य के अस्तित्व के आधार को समझ लेना आवश्यक है। थोड़ा विचार करने पर हमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्येक मनुष्य में दो प्रकार के चैतन्य का आभास होता है। एक उसका व्यष्टि चैतन्य और दूसरा समष्टि चैतन्य। व्यष्टि चैतन्य के कारण ही मनुष्य स्वयं को अन्य व्यक्तियों, प्राणियों, वातावरण, स्थान आदि से भिन्न इकाई के रूप में अनुभव करता है। यही चैतन्य उसे सामान्य से विशेष बनाता है। व्यष्टि चैतन्य के कारण ही व्यक्ति का व्यक्तित्व है और वह 'व्यक्ति' है। इस व्यक्ति का अनुभव हमें 'अहं' 'मैं' और 'मेरा' के रूप में होता है। इसी को हिन्दू दर्शन में 'जीव' कहा गया है।

अनुभव यह बताता है कि व्यक्ति का जीवत्व ही उसका सर्वस्व नहीं है। व्यक्ति अपने संकुचित अहं से सदैव तुष्ट नहीं रह पाता। जीव के रूप में मनुष्य को नाना प्रकार के अभावों तथा कष्टों का अनुभव करना पड़ता है। शारिरिक शक्ति बहुत थोड़ी मात्रा में ही मनुष्य की सहायता कर पाती है। मन भी एक सीमा पर जाकर ठिठक जाता है, ठहर जाता है। इन्द्रियों और मन के सहारे प्राप्त ज्ञान सीमित तथा सुख क्षणिक होता है। इन सबसे मनुष्य को आंशिक तृप्ति ही मिल पाती है। उसे अक्षय सुख और पूर्ण तृप्ति का अनुभव नहीं हो पाता।

इस दुःख से मनुष्य की मुक्ति समष्टि चैतन्य के बोध द्वारा ही होती है। व्यक्ति का 'व्यष्टि चैतन्यबोध' जितनी मात्रा में कम होता जाता है, उतनी ही मात्रा में उसका 'समष्टि चैतन्यबोध' बढ़ता जाता है; तथा उतनी ही मात्रा में वह आनन्द एवं तृप्ति का भी अनुभव करता जाता है। यही कारण है कि व्यक्ति अपने व्यक्तिगत सुखों की तुलना में अपने परिवार, स्वजनसम्बन्धी आदि के सुखों में अपेक्षाकृत अधिक तृप्ति का अनुभव करता है। धीरे धीरे जैसे जैसे मनुष्य की चेतना का विकास होता जाता है, वैसे

वैसे ही वह परिवार की अपेक्षा ग्राम, नगर आदि के सुख में अपेक्षाकृत अधिक तृप्ति का अनुभव करता है। इसी प्रकार सावधानीपूर्वक निरन्तर लगे रहने पर, प्रयत्न करने पर व्यक्ति की चेतना का निरन्तर विकास होता रहता है तथा एक दिन उसकी चेतना पूर्ण विकसित होकर विश्व-ब्रह्माण्डव्यापी हो जाती है इस अनुभव के होने पर उसकी व्यष्टि चेतना समष्टि चेतना में उसी प्रकार विलीन हो जाती है जैसे कि बूँद समुद्र में मिलकर समुद्र हो जाती है। तब व्यक्ति परिपूर्ण होकर तृप्त काम हो जाता है।

धर्म का लक्ष्य

हिन्दू मनीषियों ने धर्म के लक्ष्य या प्रयोजन पर भी गम्भीर रूप से विचार किया तथा अनुभव द्वारा उसकी उपलब्धि की। स्वामी विवेकानन्दजी ने धर्म के लक्ष्य के सम्बन्ध में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक राजयोग में (पृ.२१५-१६) लिखा, "प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है। बाह्य एवं अन्तःप्रकृति को वशीभूत करके आत्मा के इस ब्रह्मभाव को व्यक्त करना ही जीवन का चरम लक्ष्य है। कर्म, उपासना, मनःसंयम अथवा ज्ञान इनमें से एक, एक से अधिक या सभी उपायों का सहारा लेकर अपने ब्रह्मभाव को व्यक्त करो और मुक्त हो जाओ। बस यही धर्म का सर्वस्व है।"

मनुष्य केवल भौतिक पदार्थ-हाड़मांस का टुकड़ा नहीं है। उसके भीतर विद्यमान शुद्ध चैतन्य सत्ता ही उसका असल स्वरूप है। वस्तुतः धर्म मनुष्य की मौलिक आध्यात्मिक चेतना की अभिव्यक्ति है। आर्य ऋषियों ने साधना और तपस्या के द्वारा मनुष्य के इस मौलिक स्वरूप का अनुभव किया था, इसीलिए तो उन्होंने घोषणा की थी, हे मानव, तुम अमृत के पुत्र हो, 'अमृतस्य पुत्राः'।

आत्मानुभूति ! यही हिन्दू की दृष्टि में धर्म का चरम लक्ष्य है। अनुभूति पर आधारित होने के कारण ही धर्म के सम्बन्ध के

में हिन्दू की दृष्टि इतनी उदार, साम्प्रदायिकता रहित एवं विश्वजनीन है। अनुभूति, प्रत्यक्ष अनुभूति, यही धर्म का आधार है। इस आधार पर प्रतिष्ठित होने के कारण हिन्दू यह विश्वास करता है कि संसार के सभी लोग, चाहे वे किसी भी जाति धर्म, देश, या रंग के, स्त्री हों या पुरुष, धर्म की अनुभूति कर सकते हैं। अव्यक्त रूप में सभी व्यक्तियों में धार्मिक अनुभव की योग्यता विद्यमान है। जो भी व्यक्ति अनुभव की शर्तों को पूरा करेगा, उसे धार्मिक अनुभव अवश्य प्राप्त होगा। कार्य-कारण शृंखला का यह अलंघ्य नियम है कि यदि कारण सर्वथा ठीक है तो कार्य अवश्य प्रगट होगा। हिन्दू कहता है कि धर्म के क्षेत्र में भी यह प्रयुज्य है और इसीलिये हिन्दुओं का धार्मिक दृष्टिकोण पूर्णतः विज्ञान-सम्मत एवं प्रयोग सक्षम हैं।

धर्म जीवन का आधारस्तम्भ है

विज्ञानसम्मत एवं आचरणीय होने के कारण धर्म जीवन का मौलिक आधार है। 'नर' की संकुचित सीमा का क्रमशः विस्तार करते हुए जो तत्व उसे नर से नारायण बनाये, हिन्दू की दृष्टि में वही धर्म है। धर्म एक सतत क्रियाशील प्रक्रिया है। यह वह प्रक्रिया है जो मनुष्य को उसकी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, भावनात्मक, वैचारिक आदि सभी प्रकार की दासताओं से मुक्त कर उसे सर्वथा स्वतत्र, संयत, सहिष्णु एवं परिपूर्ण बना देता है।

हिन्दू की दृष्टि में धर्म मानव-जीवन का कोई विभाग-विशेष या अंगमात्र नहीं है। यह संपूर्ण जीवन का मौलिक आधार है। धर्म की भित्ति पर ही जीवन का सौंध खड़ा है। हिन्दू की दृष्टि में जन्म से मृत्युपर्यन्त मानवजीवन के सभी कर्म धर्म पर आधारित है। धर्म का उल्लंघन करने पर शीघ्र ही जीवन विकृत होकर नष्ट हो जाता है। सम्पूर्ण जीवन को धर्ममय बनाकर ही मनुष्य

ईश्वरप्राप्ति या आत्मानुभूति में समर्थ हो सकता है। अतः धर्म ही जीवन का वास्तविक आधार है।

धर्म असाम्प्रदायिक तत्व है

हिन्दू विचारधारा धर्म के किसी विशेष स्वरूप, सम्प्रदाय, उपासना प्रणाली, साधनपद्धति, किसी विशेष दार्शनिक विचारधारा में विश्वास, किसी मसीहा, पैगम्बर, देवदूत आदि में ही विश्वास, सृष्टि रचना आदि के संबंध में किन्हीं विशेष सिद्धान्तों में ही आस्था, आदि पर बल नहीं देता। इसके विपरीत वह मनुष्य को अपने स्वभाव, गुण, वातावरण, स्थान, परिस्थिति, शक्ति, समय, योग्यता तथा अधिकार के अनुसार अपने अपने अनुकूल इष्ट तथा गुरु का चयनकर साधना द्वारा आत्मानुभूति या ईश्वरसाक्षात्कार कर लेने की पूर्ण स्वतंत्रता देता है। व्यक्ति को धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विषयों पर स्वाधीनतापूर्वक विचार-विमर्श करने का पूर्ण सुअवसर देता है। इस प्रकार हिन्दू विचारधारा में संसार के सभी धर्मों, सम्प्रदायों, पूजा-विधियों, उपासना-प्रणालियों आदि के प्रति सम्मान, सहिष्णुता एवं स्वीकृति का भाव है। अतः धर्म के प्रति हिन्दू दृष्टि पूर्णतः असाम्प्रदायिक है।

धर्म आचरणीय तत्व है

हिन्दू की दृष्टि में धर्म आचरणीय तत्व है। यह जीवनयापन की कला है। जीवन का विज्ञान है। धर्म के सम्यक आचरण द्वारा ही मानवजीवन सार्थक और सफल होता है। मानवजीवन का प्रयोजन आत्मानुभूति है तथा यह अनुभूति धर्म के सम्यक आचरण द्वारा ही सम्भव है। धर्म का जीवन में आचरण ही मनुष्य को मनुष्येत्तर प्राणियों से भिन्न और श्रेष्ठ बनाता है। धर्म मानवजीवन की आचारसंहिता है। धर्म ही हमें अपने कर्त्तव्यों का बोध कराकर उनके पालन की प्रेरणा देता है। धर्म ही हमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर सार्वजनिक कल्याण के लिये

अपने अहं का उत्सर्ग कर 'स्व' को 'पर' में विलीन कर देने की शक्ति देता है।

मानव योनि में जन्म लेने मात्र से मनुष्य 'मनुष्य' नहीं बन जाता। धर्म का जीवन में आचरण ही मनुष्य को संस्कारित कर 'सच्चा मनुष्य' बनाता है। अतः धर्म आचरणीय तत्व है।

इहलोक और परलोक का समन्वयात्मक तत्त्व

यद्यपि मनुष्य मूलतः शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य, आध्यात्मिक तत्व है, तथापि जब वह देश, काल और निमित्त का आश्रय लेकर जन्म ग्रहण करता है, तब वह जड़-चेतन का संयुक्त रूप व्यक्ति होता है। इस अवस्था में उसकी शक्तियाँ सीमित होती हैं। असीम सत्ता सीमित होकर ही प्रकट होती है। किन्तु इस सीमित शक्ति के समुचित नियंत्रण एवं नियोजन द्वारा ही वह ससीम को लाँघकर असीम के राज्य में प्रवेश करता है। मनुष्य की इस सीमित शक्ति को यथाविधि नियंत्रित कर उसे विराट की उपलब्धि की साधना में नियोजित करनेवाला तत्व धर्म है। महर्षि कणाद वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा करते हुए लिखते हैं – 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' – धर्म वह तत्व है जिससे अभ्युदय और निश्रेय की सिद्धि हो। अभ्युदय का अर्थ है, उदित होना, उन्नत होना आदि। प्रसंगानुसार यहाँ अभ्युदय का अर्थ है – 'लौकिक उन्नति'। यहाँ यह ध्यान रखना होगा कि हिन्दू जीवन योजना में मात्र लौकिक उन्नति ही जीवन का प्रयोजन नहीं हैं। लौकिक उन्नति निःश्रेयस-प्राप्ति का एक साधन मात्र है। अतः हिन्दूजीवन की लौकिक उन्नति भी धर्म के आधार पर, धर्म के द्वारा तथा धर्म के लिये ही होती है। इस दृष्टि से जीवन का प्रत्येक कर्म उस विराट की पूजा का ही विधान है। धर्म वह तत्व है जो हमारे सांसारिक कर्मों का आध्यात्मीकरण कर देता है। धर्म का लक्ष्य है 'नर' को 'नारायण' बनाना।

ऐसी कोई भी समाज-व्यवस्था, राजनीति, अर्थनीति, व्यापार, वाणिज्य, उद्योग, कला, आदि मानव जीवन के सभी क्षेत्र यदि धर्म पर आधारित नहीं है, तो हिन्दू की दृष्टि में वह अभ्युदय नहीं है । संसार के सभी कर्म उस विराट की पूजा के विधान हैं जिसकी उपलब्धि मानव जीवन का चरम लक्ष्य है । इस भावना से पूर्णतः निःस्वार्थ होकर, कर्म करते हुए अन्तःकरण को शुद्ध कर, अपने क्षुद्र व्यष्टि चैतन्य को विराट समष्टि चैतन्य में सर्वथा विलीन कर देना तथा द्वैतरहित होकर समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड से ऐक्यबोध करना ही 'निःश्रेयस' है । अतः इस लक्ष्य की ओर ले जानेवाला प्रत्येक कर्म हिन्दू की दृष्टि में धर्म हैं ।

इस भावना से किया गया प्रत्येक कर्म व्यक्ति के जीवन की विषमताओं, विरोधों और द्वन्द्वों को दूरकर उसके व्यक्तित्व में, समता, सामंजस्य एवं ऐक्य के भावों को पुष्ट एवं दृढ़ करता है। इस प्रकार व्यक्तित्व संगठित होता है । इस प्रकार संगठित व्यक्तित्व का व्यक्ति ही हिन्दू की दृष्टि में धार्मिक होता है । ऐसे व्यक्ति का संसार में कोई शत्रु नहीं होता । वह किसी से द्वेष नहीं करता, घृणा नहीं करता । उसके जीवन का प्रत्येक कार्य लोक कल्याणकारी, शुभ एवं कल्याणप्रद होता है । ऐसे व्यक्ति का जीवन समाज के लिये वरदान सिद्ध होता है ।

अत्यन्त संक्षेप में यही है हिन्दू की धर्म सम्बन्धी धारणा, उसका धर्म के प्रति दृष्टिकोण । धर्म के इस महान तत्व के आचरण एवं प्रचार-प्रसार द्वारा ही व्यक्ति तथा समाज की समस्याओं का सम्यक निदान किया जा सकता है ।

श्री चैतन्य महाप्रभु (२३)

स्वामी सारदेशानन्द

(ब्रह्मलीन लेखक की रचनाओं में मूल बँगला में लिखित उनका 'श्रीश्रीचैतन्यदेव' ग्रन्थ महाप्रभु की जीवनी पर एक प्रामाणिक रचना मानी जाती है। उसी का हिन्दी अनुवाद यहाँ धारावाहिक रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। - सं.)

माघ भर प्रयाग में निवास करने के बाद चैतन्यदेव ने वाराणसी की यात्रा की। रूप और अनुपम ने भी उनके साथ जाने की अनुमति माँगी, परन्तु उन्होंने उन लोगों को वृन्दावन जाकर कुछ काल एकान्तवास और भगवद्भजन में बिताकर बाद में पुरी आकर अपने साथ मिलने का आदेश दिया।

इधर उनके काशी पहुँचने के पहले की रात को ही उनके काशीवासी विशेष अनुगत चन्द्रशेखर को स्वप्न में उनका दर्शन हुआ और वे अगले दिन प्रातःकाल ही महाप्रभु से मिलने की आशा में प्रयाग के पथ पर दौड़ पड़े थे। परन्तु चन्द्रशेखर को अधिक दूर नहीं जाना पड़ा। थोड़ा रास्ता पार करते ही उन्हें चैतन्यदेव का दर्शन हुआ और वे प्रेम-पुलकित होकर उनके चरणों में गिर पड़े। चन्द्रशेखर को पाकर महाप्रभु को असीम आनन्द हुआ। चन्द्रशेखर के अतीव आग्रह पर संन्यासी को उन्हीं के घर रहना पड़ा और पिछली बार के समान ही तपन मिश्र के अनुरोध पर उन्हीं के घर महाप्रभु का भिक्षा निर्वाह होने लगा। विश्वनाथ के आनन्दकानन में पहुँचकर उनका चित्त पुनः आनन्द से परिपूर्ण हो उठा। वे प्रतिदिन मणिकर्णिका में स्नान, अन्नपूर्णा, विश्वेश्वर, बिन्दुमाधव तथा अन्य देवी-देवताओं का दर्शन करते हुए परमानन्दपूर्वक दिन बिताने लगे। इस बार उनकी अधिक दिन काशी में रहने की इच्छा न थी, परन्तु काशीपुराधीश्वरी माता अन्नपूर्णा के नगरपाल महाकाल भैरव[1] ने उन्हें वहाँ से जल्दी जाने नहीं दिया।

---

१ कहते हैं कि काशीवास महाकाल भैरव के इच्छाधीन है।

सनातन को कारागार के कठोर पहरे में छोड़कर हुसेन शाह के युद्ध के लिए उड़ीसा की सीमा पर चले जाने के बाद बन्दी को श्री रूप का पत्र मिला। पत्र पाकर सनातन और भी अधीर हो उठे और चैतन्यदेव तथा अपने दोनों भाइयों से मिलने का उपाय सोचने लगे। एक योजना निश्चित करके वे मुसलमान प्रहरी के पास जाकर बोले, "तुम तो एक महापुण्यवान साधु पुरुष हो और तुम्हें कुरान शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान है। उसमें लिखा है न कि यदि अपना धन देकर किसी बन्दी को छुड़ा दिया जाय तो खुदा प्रसन्न होकर उसे संसार से मुक्त कर देते हैं। पूर्वकाल में मैं तुम्हारी भलाई कर चुका हूँ और अब तुम मुझे मुक्त करके उसका बदला चुकाओ। साथ ही मैं तुम्हें पाँच हजार मुद्रा भी देता हूँ, इसे स्वीकार करो। मुझे मुक्त करके तुम्हें पुण्य और अर्थ दोनों की ही प्राप्ति होगी।"

इस पर उस मुसलमान ने कहा, "महाशय, आपको छोड़ने में मुझे नबाब का भय लगता है।" सनातन बोले, "तुम्हें नबाब से बिल्कुल भी डरने की जरूरत नहीं। वे तो दक्षिण की ओर गये हुए है और यदि वे लौट भी आये तो तुम उनसे कह देना कि कैदी को शौच के लिए गंगा के किनारे भेजा गया था, वहाँ वे गंगा में कूद पड़े, बहुत ढूँढने पर भी उनका कोई पता नहीं चला, वे अपनी हथकड़ी-बेड़ी के साथ ही डूबकर न जाने कहाँ बह गये। मैं अविलम्ब यह अंचल छोड़कर दरवेश के रूप में मक्का की ओर चल दूँगा, तुम्हें भय का कोई कारण नहीं रहेगा।"

इस प्रकार काफी देर तक समझाने बुझाने के बाद प्रहरी का मन विचलित हुआ। सात हजार मुद्रा लेने की स्वीकृति पर एक दिन गहन रात के समय उसने सनातन के बन्धन खोलकर उन्हें शीघ्रतापूर्वक गंगा पार करा दिया। मुक्त होने पर सनातन ने अपने वचन के अनुसार वणिक के पास सुरक्षित धन में से सात

हजार मुद्रा प्रहरी को देने की व्यवस्था की और ईशान नामक एक विश्वस्त सेवक को साथ लेकर वे अविलम्ब तेजी से पश्चिम की ओर चल पड़े ।

भागे हुए बंदी के लिए मुख्य मार्ग पर चलना सुरक्षित नहीं है । अत: वे लोग पहाड़ों-जंगलों के भीतर से होकर कष्ट उठाते लगातार दो दिन चलते हुए राजमहल पर्वत-श्रृंखला की एक घाटी में जा पहुँचे । एक भुइँहार वहाँ का पहरेदार था । राजबन्दी सनातन ने वहाँ पहुँचकर उससे गोपनीयतापूर्वक वन पथ पार करा देने का अनुरोध करने लगे । भुइँहार बड़ी आसानी से राजी हो गया और दिन के समय स्नान, आहार तथा विश्राम करने का अनुरोध करते हुए बोला कि रात के समय वह अपने आदमियों के साथ गोपनीय रूप से जंगल का रास्ता पार करा देगा और कोई कुछ जान नहीं सकेगा । भुइँहार के आदरयत्न को स्वीकार कर वे लोग उसके घर में ही रहे । दो दिन के अनाहार और अनिद्रा के पश्चात् भलीभाँति स्नान, आहार व विश्राम का अवसर पाकर उनके शरीर की थकान और कष्ट काफी कुछ दूर हो गयी । आहार के उपरान्त विश्राम करते समय राजमंत्री सनातन के मन में चिन्ता का उदय हुआ, "यह भुइँहार हमारा इतना आदर-यत्न क्यों कर रहा है ? मैं तो एक राजबन्दी हूँ, अपराधी हूँ, छिपकर पलायन कर रहा हूँ और ऐसे स्थान में पहरेदारों की सेवा का क्या तात्पर्य हो सकता है ?" काफी सोच-विचार के पश्चात् सनातन ने अपने संगी ईशान को बुलाकर पूछा कि कहीं उनके पास कोई धन-सम्पत्ति तो नहीं है । ईशान ने विनयपूर्वक बताया, "रास्ते की आपत्ति-विपत्ति में सहारे के लिये मैं अपने साथ सात मोहरें ले आया हूँ ।" यह सुनकर सनातन ने उसकी कठोर भर्त्सना करते हुए कहा, "इस काल यम को अपने साथ क्यों लेते आये ?" फिर सनातन उन सात मोहरों को हाथ में लिए भुइँहार के पास जाकर मधुर स्वर में बोले, "हमारे

पास ये सात मोहरें थीं, आप इन्हें लेकर हमें सुरक्षित रूप से पार करा दें। मैं राजबन्दी हूँ अतः गढ़ी के द्वार से होकर नहीं जा सकता, मुझे किसी तरह ये पर्वत पार करा दें तो आपको बड़ा पुण्य होगा।"

सनातन की बात सुनकर भुइँहार हँसते हुए बोला, "तुम्हारे संगी के पास आठ मोहरें हैं। ज्योतिषीय गणना के द्वारा यह बात जानकर ही मैंने तुम लोगों को आदरयत्नपूर्वक रखा है। हमारा विचार था कि आज रात तुम्हारी हत्या करके हम मोहरें ले लेंगे। मैं इसी प्रकार लोगों की हत्या करके उनका धन हरण किया करता हूँ, परन्तु जब तुम स्वयं ही अपना धन देने को प्रस्तुत हो, तो मैं उसे न लूँगा। अपने मोहर तुम अपने साथ ही ले जाओ। रात को मेरे आदमी तुम्हें साथ ले जाकर सुरक्षित रूप से वन का मार्ग पार करा देंगे, अतः अब भय की कोई बात नहीं और तुम निश्चिन्त हो जाओ।" परन्तु सनातन किसी भी हालत में मोहरें वापस लेने को राजी नहीं हुए और कहने लगे, "रास्ते में कोई हमें मारकर यह धन छीन लेगा, अतः आप इसे स्वीकार करके हमारे प्राण बचाइए।" सनातन के अनुनय-विनय और अनुरोध पर आखिरकार भुइँहार ने सात मोहर स्वीकार कर लिए और गम्भीर रात के समय उन्हें अपने आदमियों के साथ वन के भीतर से भेजकर सीमा पार करा दिया।

अगले दिन सुबह सनातन ने ईशान से पूछा कि कुछ और भी पास में है क्या ? ईशान ने विनयपूर्वक बताया कि बस एक मोहर आखिरी सम्बल के रूप में अब भी उनके पास बची हुई है। सनातन ने उसे वह मोहर साथ लेकर अपने गाँव को लौट जाने का आदेश दिया। इस पर स्वामिभक्त सेवक को रुलाई आ गयी। सनातन ने मधुर वाणी में सान्त्वना देते हुए ईशान को बिदा कर दिया और निःसम्बल अकिंचन के रूप में भगवान का नाम लेते हुए उत्तर-पश्चिम की ओर चल पड़े।

गौड़ाधिपति के प्रिय सचिव जो अतुल ऐश्वर्य के अधिकारी थे, वे आज भगवान की कृपा पाने की आशा में पथ के भिखारी हो गये थे। भगवान का नाम जपते सारे दिन पथ चलते चलते सन्ध्या को वे हाजीपुर जा पहुँचे और नगर के बाहर एक विशाल उद्यान के पास एक वृक्ष के नीचे ठहर गये। वहाँ हरिहर क्षेत्र के मेले में बेचने को बहुत से हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि पशु लाये जाते हैं। यह हरिहर क्षेत्र का मेला ही सम्पूर्ण भारत में पशुओं के क्रय-विक्रय का एक प्रमुख केन्द्र है। इस व्यापार के लिए ऐसी सुविधा और कहीं भी उपलब्ध नहीं है। लगता है कि सनातन जब हाजीपुर पहुँचे उस समय हरिहर क्षेत्र का मेला चल रहा था, क्योंकि सनातन के बहनोई श्रीकान्त नबाब के अधिकारी के रूप में तीन लाख मुद्राएँ लेकर वहाँ घोड़े खरीदने आये हुए थे। हरिहर क्षेत्र मेले के अतिरिक्त अन्य कहीं भी एक जगह इतने घोड़े पाना बड़ा कठिन था। जिस उद्यान के किनारे एक पेड़ के नीचे रात में बैठकर सनातन हरिनाम-कीर्तन कर रहे थे, उसी उद्यान के भीतर श्रीकान्त का डेरा पड़ा हुआ था। जब रात की निस्तब्धता को भंग करते हुए परिचित स्वर में हरिनाम श्रीकान्त के कानों में पहुँचा, तो वे विस्मित हो उठे और उत्सुक होकर तलाश करते हुए जाकर उन्होंने दूर से कीर्तनकर्ता को देख लिया। दीनहीन कंगाल के वेश में होने पर भी सनातन को पहचानते उन्हें देर न लगी। उन्हें इस अवस्था में देखकर श्रीकान्त के मन में अतीव विस्मय का उदय हुआ। सनातन पर नबाब के क्रोध और उन्हें बन्दीगृह में रखने की बात उन्हें विदित थी, अतः उन्हें इस अवस्था में देखकर भी श्रीकान्त ने किसी के समक्ष कुछ व्यक्त नहीं किया। गहन रात के समय एक अति विश्वस्त सेवक को साथ लेकर वे सनातन के पास जा पहुँचे और उनके मुख से सारी आपबीती सुनकर अपने आँसू न रोक सके। सनातन की वेशभूषा देखकर उनका हृदय विदीर्ण हो गया।

श्रीकान्त ने उनसे भिखारी का यह बाना त्यागकर यथायोग्य वस्त्र धारण करने तथा दो-चार दिन उनके पास रहकर विश्राम करने का विशेष आग्रह किया। परन्तु सनातन कैसे भी राजी नहीं हुए और श्रीकान्त से तुरन्त ही गंगापार जाने की व्यवस्था करा देने के लिए अनुरोध करने लगे। श्रीकान्त ने हार मानकर दुःखी चित्त से उसी समय एक नाव की व्यवस्था करा दी। साथ में कपड़े-लत्ते तथा अन्य आवश्यक चीजें ले जाने को श्रीकान्त ने बड़ा आग्रह किया, परन्तु सनातन ने कुछ भी स्वीकार नहीं किया। परन्तु आखिरकार या तो श्रीकान्त का मन रखने के लिए अथवा उत्तर भारत के ठंड की वजह से आवश्यकता समझकर उन्होंने एक भोटिया[२] कम्बल ग्रहण किया और नाव में सवार हुए। मल्लाहों ने शीघ्र ही उन्हें गंगा पार करा दिया।

अब सनातन काफी सुरक्षित और निश्चिन्त हो गये थे। रातदिन भगवान का चिन्तन तथा नाम-संकीर्तन करते वे काशी की ओर अग्रसर हुए। उनका राजवैभव में पला शरीर आज धूल-धुसरित हो रहा था। वे भिक्षान्न से उदरपूर्ति और वृक्षों के नीचे शयन करते थे, तथापि उनके चित्त में इसके लिए बिन्दुमात्र भी दुःख न था, बल्कि संसार-पाश में मुक्त होकर उन्हें परम आनन्द का ही बोध हो रहा था। अब चैतन्यदेव का दर्शन तथा कृपालाभ की ही एकमात्र आकांक्षा उनके मन में व्याप रही थी। पैदल चलने में अनभ्यस्त सनातन धीरे धीरे अग्रसर होकर काफी दिनों बाद जब काशी पहुँचे, तो चैतन्यदेव तब तक प्रयाग से

---

२. भोटिया अर्थात् पशमी कम्बल। प्राचीन काल से ही तिब्बत और हिमालय से संलग्न अंचल की भोट के रूप में प्रसिद्धि है। भोटिया व्यवसायीगण तिब्बत से पशम तथा पशमी कम्बल आदि भारत में लाया करते हैं। हरिहर क्षेत्र के मेले में भी ये सब चीजें काफी परिमाण में आती हैं। मेला कार्तिक मास में लगता हैं। उसी समय से ठंढक भी आरम्भ हो जाती है और सम्भवतः इसी कारण श्रीकान्त ने उन्हें भोटिया कम्बल दिया था।

लौटकर चन्द्रशेखर के घर में निवास कर रहे थे। लोकसंग से दूर उनकी एकाकी रहने की इच्छा होने पर भी जहाँ कहीं वे रहते, पूर्णचन्द्र की विमल रश्मियों के समान उनकी महिमा-ज्योति निःसित होकर चारों ओर फैल जाती थी। इस कारण सनातन के लिए उन्हें तथा उनका निवासस्थान ढूँढ़ निकालने में कोई कठिनाई नहीं हुई। पता लगाते हुए सनातन चन्द्रशेखर के घर के सम्मुख आ पहुँचे और बाहरी द्वार के पास मार्ग के एक किनारे इस आशा में बैठ गये कि प्रभु के बाहर निकलने पर दर्शन मिल जाएगा।

अनेक दिनों के पथश्रम से क्षीण-मलिन, लम्बी दाढ़ी-मूछों से युक्त तथा फटे वस्त्र पहने इस भिखारी फकीर की ओर किसी ने भी ध्यान नहीं दिया; ऐसे कितने ही भिखारी लोगों के द्वार पर भटकते रहते हैं। परन्तु भक्त का खिंचाव भक्तवत्सल के अन्तर में अनुभव हो गया। महाप्रभु ने चन्द्रशेखर से कहा, "देखो तो जरा, द्वार के पास कोई भक्त वैष्णव तो नहीं प्रतीक्षा कर रहा है?" चन्द्रशेखर बाहर जाकर देख आये और बोले, "बाहर तो कोई वैष्णव भक्त नहीं दीख पड़ता।" चैतन्यदेव ने पूछा, "वहाँ कोई भी नहीं है?" चन्द्रशेखर ने सविनय कहा, "एक दरवेश बैठा है।" चैतन्यदेव ने अतीव आग्रह के साथ कहा, "उस दरवेश को ही परम आदर सहित भीतर ले आओ।" चन्द्रशेखर बड़े विस्मय के साथ जाकर दरवेश को भीतर ले आए, हाँ दरवेश भीतर आने में अवश्य ही बड़े सँकुचा रहे थे। दरवेश को देखते ही चैतन्यदेव ने दौड़कर उन्हें प्रेमालिंगन में बद्ध कर लिया। प्रभु का स्पर्श पाकर सनातन को प्रेमावेश हो गया और वे गदगद् वाणी में कहने लगे, "प्रभो, मेरा स्पर्श न करें।" दोनों गले लगकर रो रहे थे और प्रेमवारि से दोनों के वस्त्र भीग रह थे। यह दृश्य देखकर चन्द्रशेखर हक्के-बक्के रह गये। इसके बाद प्रभु उनका हाथ पकड़कर ले गये और आसन पर अपने निकट

बैठाया। इसके उपरान्त चैतन्यदेव अपने करकमल उनके शरीर पर फेरने लगे और सनातन बारम्बार कहते रहे कि प्रभु उनका स्पर्श न करें। प्रभु बोले, "मैं तो स्वयं को पवित्र करने के लिए तुम्हारा स्पर्श कर रहा हूँ। अपनी भक्ति के बल पर तुम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को शुद्ध करने की क्षमता रखते हो।"

चन्द्रशेखर और तपन मिश्र के साथ उनका परिचय कराते हुए चैतन्यदेव ने कहा, "सनातन का भद्रवेष करवा दो।" सनातन का परिचय पाकर भक्तों का चित्त आनन्द से उत्फुल्ल हो उठा। वे लोग अतीव श्रद्धा और सम्मान के साथ उन्हें गंगाजी के घट पर ले गये और नाई बुलाकर उनका क्षौरकर्म कराया। मुण्डन और स्नान के पश्चात् सनातन तब बाहर तट पर आये, तो चन्द्रशेखर ने उन्हें एक नवीन वस्त्र देते हुए उसे पहनने का अनुरोध किया। परन्तु सनातन किसी भी हालत में वह नया वस्त्र पहनने को राजी नहीं हुए। तपन मिश्र के विशेष आग्रह पर चैतन्यदेव उस दिन सनातन को साथ लेकर उनके घर भिक्षा करने को पहुँचे। मिश्र ने भी सनातन से उनके छिन्न-मलीन वस्त्र का त्याग कराने के लिए एक नया वस्त्र ला रखा था, परन्तु उन्होंने किसी भी हालत में उसे स्वीकार नहीं किया। आखिरकार मिश्र को खेद से बचाने के लिए सनातन ने उनके द्वारा व्यवहृत एक पुरानी धोती मांगी ली और उसे फाड़कर डोर-कौपीन एवं बहिर्वास के रूप में पहन लिया। सनातन के इस कठोर वैराग्य को देखकर चैतन्यदेव का अन्तर पुलकित हो उठा। (क्रमशः)

माँ के सान्निध्य में (३२)

सरयूबाला देवी

(प्रस्तुत सस्मरणो के लेखक माॅ सारदादेवी के शिष्य थे । मूल बॅगला ग्रन्थ 'श्री श्री मायेर कथा' के द्वितीय भाग से इसका अनुवाद किया है स्वामी निखिलात्मानन्द ने, जो सम्प्रति रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद के अध्यक्ष है । -स)

३ अगस्त, १९११

आज सबेरे दीक्षा लेने की इच्छा से कुछ सामान लेकर मै माॅ के पास गयी । किन किन वस्तुओ की आवश्यकता होगी, यह गौरी माॅ से जान लिया था तथा उन्हे भी साथ लेकर गयी थी । माॅ के यहाॅ जाकर देखती हूॅ कि वे अनन्य चित्त से ठाकुर की पूजा कर रही है । हम लोगो के पहुॅचने के कुछ देर बाद उन्होने हम लोगो को देखकर इशारे से बैठने के लिए कहा । पूजा समाप्त होने पर गौरी माॅ ने उनसे मेरी दीक्षा की बात कही । इसके पहले मेरी भी माॅ से इस विषय पर चर्चा हुई थी । मै अपने साथ मर्तमान केला ले गयी थी । देखकर माॅ ने कहा, "मर्तमान केला लायी हो, बहुत अच्छा किया । वह (एक साधु का नाम ले) केला खाना चाहता था ।" बाद मे उन्होने कहा, "तुम वह आसन लेकर मेरी बायी ओर आकर बैठो ।"

मैने कहा, "गगा स्नान तो नही किया है ।"

माॅ ने कहा, "कोई बात नही । कपडे आदि बदलकर आयी हो न ?"

मै माॅ के पास जाकर बैठी । मेरी छाती धडकने लगी थी । माँ ने सबको कमरे से चले जाने के लिए कहा । फिर उन्होने पूछा, "सपने मे क्या पाया है, बोलो ।"

मैने कहा, "लिख दूॅ या मुख से कहूॅ ?"

माॅ ने कहा, "मुख से ही कहो ।"

दीक्षा के दौरान माॅ ने स्वप्न मे प्राप्त मत्र का अर्थ समझा दिया । उन्होने कहा, "पहले इसका जप करना ।" फिर एक और मत्र बताकर बोली, "बाद मे इसका जप और ध्यान करना ।"

मत्र का अर्थ कहने के पहले मैने मॉ को कुछ मिनटो के लिए ध्यानस्थ होते हुए देखा था । मत्र लेते समय मेरा सारा शरीर कॉपने लगा और नही मालूम क्यो, मै रोने लगी । मॉ ने मेरे माथे पर लाल चन्दन का एक बडा सा टीका लगा दिया । मैने दक्षिणा और ठाकुरभोग के लिए कुछ रुपये मॉ को दिये । बाद मे गोलाप-मॉ को बुलाकर मॉ ने भोग का रुपया उनके साथ मे दिया ।

दीक्षा के समय मैने मॉ को बहुत गम्भीर पाया । बाद में पूजा के आसन से उठकर मॉ ने मुझसे कहा, "तुम कुछ देर ध्यान, जप और प्रार्थना करो ।" मैने जब वह समाप्त कर मॉ को प्रणाम किया तो मॉ ने आशीर्वाद दिया, "तुम्हे भक्ति लाभ हो ।" मैने मन ही मन मॉ से कहा, "देखो मॉ, अपना कहा याद रखना, कही भुला न देना ।"

श्री मॉ अब गगास्नान को जाएँगी – साथ मे गोलाप मॉ भी । मै भी मॉ का कपडा, गमछा आदि लेकर साथ चली । मॉ स्नान करने के लिए गगा मे उतरी । ठीक उसी समय बूँदाबॉदी आरम्भ हो गयी । नहाने के बाद घाट के पण्डा ब्राह्मण को एक आम और एक पैसा देकर मॉ कहा, "मैने भले तुम्हे फल दिया पर दान का फल तुम्हारा है ।" अहा ! पण्डा महाराज, तुम जानते नही आज किसके हाथ से तुमने दान पाया है । और कितनी बडी बात तुमने सुनी । कोटि कामनाओ से बॅधे हम मानव इस दैवी वाणी का मर्म भला क्या समझे ।

मेरे पास से वस्त्र लेकर और फिर भीगे वस्त्र मेरे हाथों में देकर मॉ बोली, "चलो ।" आगे गोलाप-मॉ, बीच मे मॉ और उनके पीछे मै चली । एक छोटे से लोटे मे गगाजल लेकर माँ रास्ते के प्रत्येक वट वृक्ष मे जल डालकर प्रणाम करते हुए चली । मॉ तब राजा के घाट पर नहाती थी, क्योकि नया घाट

(दुर्गाचरण मुकर्जी घाट) तब नहीं बना था। गोलाप-माँ एक छोटे घड़े में गंगाजल लेकर आयी थीं, उसे वे ठाकुर घर में रखने गयीं। नल की टंकी के पास एक लोटे में जल था। माँ ने उससे पैर धोकर मुझसे कहा, "कीचड़ लगा है, धोकर आओ।" मुझे पानी खोजते देखकर बोलीं, "उस लोटे के पानी से ही धोओ ना ?"

मैंने कहा - "आपने वह पानी छुआ जो है।"

माँ - "आगे थोड़ा सिर में छिड़क लो, उससे ही होगा।"

किन्तु मेरा मन तो सरल नहीं है। मैंने कहा, "यह भला कैसे हो सकता है ?" मैंने एक दूसरे बर्तन से टंकी में से पानी लेकर पैर धोया। माँ तब तक मेरे लिए रुकी रहीं। फिर ऊपर जाकर दो साल के पत्तों में ठाकुर का प्रसाद सजाकर एक स्वयं लिया और दूसरा मुझे देकर पास में बैठकर खाने के लिए कहा। प्रसाद ग्रहण करने के पहले माँ की चरणामृत लेने की इच्छा व्यक्त करने पर माँ ने कहा, "तो घड़े से थोड़ा नल का पानी ले आओ।" एक बर्तन में पानी लाने पर माँ ने उसे हाथ से पकडने के लिए कहा और अपने दोनों पैर के अँगूठे उस बर्तन में डालकर अस्फुट स्वर में वे कुछ कहने लगीं जो मैं समझ नहीं पायी। केवल मैंने उनके ओंठ हिलते हुए देखे। अन्त में उन्होंने कहा, "अब ले लो।" अपने को कृतार्थ समझकर मैंने उसका पान किया। इसके बाद वे प्रत्येक वस्तु थोड़ा खाकर मेरे पत्ते में डालने लगीं।

क्रमशः बहुत-सी भक्त स्त्रियाँ आने लगीं। मैं किसी को पहचानती न थी। मैंने सुना – वे सभी यहाँ प्रसाद पायेंगी। ठाकुर का भोग होने पर हम सब प्रसाद पाने को बैठीं। माँ भी अपने निर्दिष्ट आसन पर आकर बैठीं। तीन कौर खाने के बाद माँ ने मुझे बुलाया और मेरे हाथ में प्रसाद दिया। प्रसाद ग्रहण

करते समय मैंने न मालूम कैसी एक सुगन्ध का अनुभव किया जिसके बारे में अभी भी सोचकर मैं अवाक हो जाती हूँ। बाद में सभी के पत्तलों में माँ का प्रसाद दिया गया। गोलाप-माँ सबको परोसकर खुद खाने बैठीं। माँ अब खूब प्रसन्न हो सबके साथ बातचीत करती हुई भोजन करने लगीं। यह देख मेरी साँस में साँस आयी। दीक्षा के समय से लेकर वे अभी तक मानो एक दूसरी ही माँ प्रतीत हो रही थीं। वे थीं एक गम्भीर, अन्तर्मुखी, निग्रह और अनुग्रह करने में समर्थ एक देवी मूर्ति। भय से उस समय मैं जड़वत हो गयी थी। बाद में मैंने माँ को कितने ही लोगों को दीक्षा देते हुए देखा है जिसकी समाप्ति में केवल दो-चार मिनट ही लगे। पर उनका इस प्रकार का गम्भीर भाव और कभी नहीं देखा। कितने ही लोगों को उन्होंने हँसते हँसते, खड़े खड़े ही अथवा बैठकर दीक्षा दी तथा वे लोग प्रसन्न हो उसी समय तृप्त होकर चले गये। किसी-किसी को मैं कुतूहलवश पूछ ही बैठी थी, "दीक्षा के समय माँ का रूप कैसा देखा ?" एक विधवा महिला भक्त ने मेरे प्रश्न के उत्तर में कहा, "बस ऐसा ही। मैंने पहले कुलगुरु से दीक्षा ली थी, बाद में माँ के बारे में सुनकर उनसे दीक्षा लेने आयी। कुलगुरु ने जो मंत्र दिया था, माँ ने उसका प्रतिदिन दस बार जप करने के लिए कहा और फिर अपना मंत्र देकर ठाकुर की ओर इशारा करते हुए कहा, 'वे गुरु है और एक दूसरी मूर्ति दिखाते हुए ये हैं इष्ट।' फिर इस प्रकार प्रार्थना करने के लिए कहा, 'ठाकुर, मेरे पूर्वजन्म और इस जन्म के कुकर्मों का भार तुम ग्रहण करो इत्यादि'।" वह महिला आगे कहने लगी, "मुझे क्या हुआ है बताइए तो। जब भी जप करने बैठती हूँ तो आधा घण्टा से अधिक नहीं कर पाती हूँ, मानो कोई धक्का देकर उठा देता है। क्या आप लोगों को भी ऐसा होता है ? सोचती हूँ, माँ से कितनी बातें करूँगी, पर कुछ नहीं बोल पाती हूँ। आप लोग तो माँ के साथ अच्छी तरह बातें कर पाती हैं। तो

क्या माँ ने मुझे बुद्धू बना दिया ? " किन्तु मैं इतना सब नहीं जानना चाहती थी । महिला प्रौढ़ा थीं – सरल भाव से खुद ही सब बोलती गयीं । मैंने कहा, " आपकी जो इच्छा हो, माँ के पास जाकर कहिए न, दो-चार दिन बोलने से सब सहज हो जायेगा । हम लोग भी पहले पहले इतनी बातें नहीं कर पाती थीं । अभी भी कभी कभी वे ऐसा गम्भीर भाव धारणकर लेती हैं कि पास जाने की हिम्मत नहीं होती । "

दिन ढलने के साथ आयी हुई भक्त महिलाएँ श्री माँ को प्रणाम कर एक एक करके विदा लेने लगी । किसी किसी ने आरती देखकर जाने की बात कही । श्री माँ ने वस्त्र बदलकर ठाकुर को अपराह्न का भोग दिया और सबको प्रसाद दिया ।

धीरे-धीरे सन्ध्या हो आयी । माँ ने राधू, माकू आदि को ठाकुर घर में जाकर जप के लिए बैठने को कहा । उनके आने में विलम्ब होते देख माँ असन्तुष्ट हो कहने लगीं, " कहाँ संध्या के समय आकर जाप आदि करना चाहिए और ये लोग देखो क्या कर रही हैं ।" कुछ देर बाद वे लोग आकर जप करने बैठीं ।

पूजनीया गोलाप-माँ, योगीन-माँ आदि ने सन्ध्या के समय भक्तिभाव से श्री माँ की पदधूलि ग्रहण की । माँ ने उनके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया । उन्होंने किसी किसी की ठुड्डी छूकर हाथ चूमा और फिर हाथ जोड़कर नमस्कार भी किया । इसके पश्चात् वे ठाकुर को प्रणामकर एक आसन बिछाकर जप करने बैठीं । सन्ध्या आरती की तैयारी होने लगी । कुछ देर बाद श्री माँ जप समाप्त करके उठीं । मुझे लेने के लिए घर से एक लड़का आया था । माँ के पास से बिदा लेते समय मैंने उनसे कहा, "माँ, उस दिन का कपड़ा तो आपने पहना नहीं ?"

माँ ने कहा, "ठीक तो बेटी, उस समय याद क्यों नहीं दिलाया ?" माँ को प्रणाम कर मैं घर लौटी ।

स्कूल की व्यस्तता के कारण माँ के पास शीघ्र जाने के लिए समय नहीं मिल पाया। कई दिनों के बाद आज फिर माँ के चरणों में बैठते ही माँ बहुत आनन्द प्रकट करने लगीं। भूदेव महाभारत पढ़ रहा था। छोटा बालक, पढ़ने में देरी हो रही थी। अब माँ को जल्दी ही उठना होगा क्योंकि सन्ध्या हो आयी थी। इसलिए उन्होंने भूदेव से कहा, "इसको दे दे, यह तेजी से पढ़ देगी। यह अध्याय खतम नहीं होने से उठ नहीं पाऊँगी।" माँ के आदेश से मैं महाभारत पढ़ने बैठी। इसके पहले कभी माँ के सामने पढ़ा नहीं था, इसलिए लज्जा का अनुभव होने लगा। जो हो किसी प्रकार अध्याय खतम हुआ। माँ महाभारत को हाथ जोड़कर प्रणाम करके उठ गयीं और हम लोग सभी ठाकुर घर में आरती देखने गये। माँ निर्दिष्ट आसन पर जाकर जप करने बैठीं।

जप के बाद वे हरिबोल, हरिबोल कहकर उठीं और ठाकुर को प्रणाम करके सबको प्रसाद दिया। बातचीत के बीच कर्म की बात उठी। माँ ने कहा, "सर्वदा काम में लगे रहना चाहिए। काम से लगे रहने पर देह और मन ठीक रहता है। मैं पहले जब जयरामवाटी में थी तो दिन-रात काम करती थी। कभी किसी के घर नहीं जाती थी। जाने से ही लोग कहते, 'अरी माँ, श्यामा की लड़की की शादी पगले दामाद के साथ हुई हैं।' यही बात सुननी होगी सोचकर मैं कहीं भी नहीं जाती थी। एक बार वहाँ मुझे न मालूम कैसी बीमारी हो गयी – किसी प्रकार भी ठीक नहीं हो रही थी। अन्त में मैंने माँ सिंहवाहिनी के दरवाजे पर धरना दिया। तभी बीमारी दूर हुई। बड़ी जाग्रत देवी हैं। वहाँ की मिट्टी मैंने डब्बे में रखी है। मैं खुद खाती हूँ तथा राधू को रोज वह मिट्टी थोड़ी-सी खाने के लिए देती हूँ।"

माँ के मकान के सामने के मैदान में विभिन्न प्रान्तों के लोग रहते थे। वे तरह तरह के कार्य करके अपनी जीविका चलाते थे।

उनमें से एक आदमी की एक रखैल थी। दोनों साथ रहते थे। उस रखैल को जबरदस्त बीमारी हुई। माँ ने उस बात का उल्लेख करके कहा था, "कैसी सेवा उसने की बेटी। ऐसा कभी देखा नहीं। इसे ही कहते हैं सेवा, इसे ही कहते हैं प्रेम।" इस प्रकार वे उसकी सेवा की बहुत प्रशंसा करने लगीं। रखैल की सेवा ! हम लोग यह देख घृणा से नाक-भौंह सिकोड़ने लगते – इसमें सन्देह नहीं। बुराई के बीच भी अच्छाई को लेना चाहिए – यह क्या हम जानते हैं ?

सामने के मैदान के एक घर से एक गरीब उत्तर भारतीय महिला अपने बीमार बच्चे को गोद में लेकर माँ के पास आशीर्वाद के लिए आयी। उसके प्रति माँ की कैसी दया है ! उन्होंने आशीर्वाद देते हुए कहा, "अच्छा हो जायेगा।" फिर मुझे दो अनार और कुछ अंगूर ठाकुर को दिखाकर लाने और उसे देने के लिए कहा। मैंने वह लाकर माँ के हाथ में दिया। माँ ने स्वयं उसे उस स्त्री को देकर कह, "अपने बीमार-बच्चे को इसे खिलाना।" अहा ! वह कितनी प्रसन्न हो, माँ को बारम्बार प्रणाम करने लगी।

१९११

पटलडांगा के अपने घर से शाम को माँ के पास गयी। माँ के कमरे में जाकर बैठते ही गोलाप-माँ ने आकर कहा, "एक संन्यासिनी अपने गुरु का ऋण चुकाने के लिए कुछ सहायता प्राप्त करने काशी से यहाँ आयी हैं। तुम्हें कुछ देना होगा।" मैंने खुशी से अपनी सहमति जताई। माँ ने हँसकर कहा, "मुझे पकड़ा था। पर मैं क्या किसी के पास रुपया माँग सकती हूँ, बेटी ?" मैंने कहा, "ठहरो, हो जायेगा।" गोलाप-माँ ने कहा, "माँ ने आखिर उपाय कर ही दिया।" माँ ने धीरे से मुझसे कहा, "गोलाप ने तीन गिन्नियाँ दी हैं।"

कुछ देर बाद वे संन्यासिनी आयीं। वे बलराम बाबू के घर गयी थीं। वहाँ भक्तों ने अपने साध्यानुसार कुछ कुछ दिया है।

मैंने सुना उनका एक बड़ा परिवार था तथा सात पुत्र थे । उनके सब प्रकार से भार ग्रहण में समर्थ होने पर ये संसार त्याग करके चली आयी हैं ।

संन्यासिनी, "कहा जाता है कि गुरुनिन्दा नहीं करनी चाहिए ।" फिर गुरु के उद्देश्य से प्रणाम करके बोलीं, "वे मुकदमेबाजी के शौकीन थे । अब बूढ़े हो गये हैं । अब कुछ कर नहीं पाते हैं । उधर लेनदार उनके विरुद्ध डिगरी पाकर पैसा वसूल करने आया है । क्या करूँ, इसीलिए उनके लिए भिक्षा करने निकली हूँ ।"

यह सुनकर श्री माँ ने एक श्लोक कहा । श्लोक याद नहीं आ रहा है, पर उसका भाव यह था कि उचित बात गुरु को भी कही जा सकती है, उससे पाप नहीं होता । माँ ने और भी कहा, "पर गुरुभक्ति होनी चाहिए । गुरु चाहे जैसे हों, उनके प्रति भक्ति से ही मुक्ति हैं । ठाकुर के शिष्य-भक्तों में कैसी भक्ति हैं, देखो तो सही । इसी गुरुभक्ति के कारण वे लोग गुरुवंश के सभी लोगों के प्रति भक्ति तो रखते ही हैं, यहाँ तक कि गुरु के स्थान की बिल्ली को भी सम्मान देते हैं ।"

संन्यासिनी रात तीन बजे से सबेरे आठ बजे तक जप-ध्यान करती हैं । इसलिए उन्होंने एक धुले हुए कपड़े की माँग की । माँ ने भूदेव की एक धोती देने के लिए कहा । संन्यासिनी ने मुझसे पूछा, "क्या तुम रात में रुकोगी ? यदि रुको तो तुम्हें कुछ उपदेश दे सकती हूँ ।" मैंने मन ही मन सोचा, "हमारी माँ के सामने आप भला क्या सिखायेंगी ।" किन्तु प्रकट में कहा, "नहीं, मेरा रुकना नहीं होगा ।"

मेरी गाड़ी आ गयी । संध्या-आरती होने पर श्री माँ को प्रणाम कर मैंने विदा ली ।

११ फरवरी, १९१२

आज माँ के पास जाकर प्रणाम करके बैठते ही माँ ने दुःख प्रकट करते हुए कहा, "अहा ! गिरीश बाबू चल बसे । आज चतुर्थी के काम के लिए उसके घर से मुझे ले जाने के लिए आये थे । उसके अभाव में भला वहाँ जाने की इच्छा होगी ? अहा ! एक वज्रपात हो गया ! उसका कैसा भक्ति-विश्वास था ! गिरीश घोष की वह बात तुमने सुनी है ? ठाकुर को उसने पुत्र के रूप में चाहा था। ठाकुर ने इस पर कहा था, "मुझे क्या पड़ी है जो तेरे बेटे के रूप में जन्म लूँ।" कौन जाने बेटी, ठाकुर के देहावसान के कुछ दिनों बाद गिरीश का एक ऐसा लड़का हुआ जो चार साल का होने पर भी किसी से बात नहीं करता था। केवल हाव-भाव से सब प्रकट करता था । ये लोग उसकी ठाकुर भाव से सेवा करते थे। उसके कपड़े-लत्ते तथा खाने की थाली, कटोरी, गिलास सभी चीजें अलग थीं। दूसरों को उनका उपयोग करने नहीं दिया जाता था । गिरीश कहता, "ठाकुर ही आये हैं।" भक्त की इच्छा, कौन जाने बेटी ! एक दिन वह बच्चा मुझे देखने के लिए इतना चंचल हो गया कि सभी को खींच खींचकर ऊपर की ओर जहाँ मैं बैठी थी, ऊ ऊ कहकर दिखाने लगा। पहले कोई समझ नहीं पाया। बाद में समझ आने पर उसे मेरे पास ले आया गया। तब उतने से बच्चे ने मेरे पैरों में गिरकर प्रणाम किया। फिर वह नीचे उतरकर गिरीश को पकड़कर मेरे पास लाने के लिए खींचने लगा। गिरीश जोरों से रोने लगा और कहने लगा, "अरे मैं महापापी, भला माँ को देखने जाऊँगा ?" पर बच्चे ने किसी प्रकार भी नहीं छोड़ा। तब बच्चे को गोद में लेकर गिरीश काँपते-काँपते आँसुओं की धारा बहाते आकर मेरे पैरों में साष्टाग प्रणाम करके बोला, 'माँ, इसके कारण ही तुम्हारे श्रीचरणों का

दर्शन हुआ ।'* पर बेटी, लड़का चार साल का होकर ही चल बसा ।

"इसके पहले एक दिन गिरीश और उसकी स्त्री अपने मकान की छत पर थे । मैं तब बलराम बाबू के घर में थी । शाम के समय मैं छत पर गयी । गिरीश के छत से देखने पर यहाँ का दृश्य दिखायी देता है, इस पर मैंने ध्यान नहीं दिया था । पर बाद में उसकी स्त्री से सुना कि उसने गिरीश से कहा था, 'वह देखो, माँ उस मकान की छत पर घूम रही हैं ।' इस पर गिरीश ने तुरन्त पीठ फेरकर कहा था, 'नहीं नहीं, मेरे पाप नेत्र हैं, इस प्रकार छिपकर माँ को नहीं देखूँगा ।' यह कहकर वह नीचे उतर आया था ।" (क्रमशः)
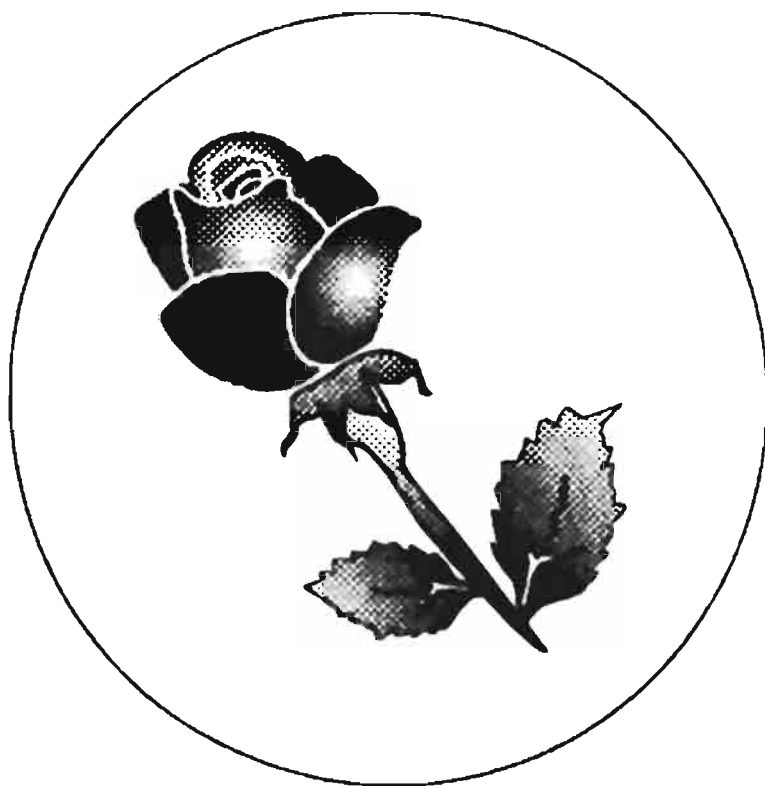
१ तब माँ वराहनगर के कुटीघाट में सौरीन्द्रमोहन ठाकुर के किराये के मकान में थीं ।

श्रीराम और श्रीरामकृष्ण (२)

स्वामी निखिलेश्वरानन्द

पुराणों की कथा के अनुसार हिरण्याक्ष जब पृथ्वी को चुराकर ले जाता है, तब भगवान वराह के रूप में अवतरित होकर उसका वध कर पृथ्वी का उद्धार करते हैं। हिरण्यकशिपु जब संसार पर अत्याचार करने लगता है और भक्त प्रह्लाद का वध करने की चेष्टा करने लगता है तब वे नृसिंह अवतार लेकर हिरण्यकशिपु के अत्याचारों से जगत् को छुटकारा दिलाते हैं। त्रेतायुग में वे श्रीराम के रूप में वे रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद आदि का वध करते हैं और द्वापर में वे श्रीकृष्ण के रूप में आकर कंस, शिशुपाल, दन्तवक्त्र आदि का नाश करते हैं। परन्तु इस युग में अवतरित श्रीरामकृष्ण के हाथों में तो कोई अस्त्र-शस्त्र दिखाई नहीं देते। और फिर उन्होंने आकर कौन से असुरों का, कैसे विनाश किया ?

वस्तुतः हमारे युग की समस्याएँ पौराणिक युग से बिल्कुल अलग प्रकार की हैं। पूर्व काल की समस्याएँ व्यक्तिपरक थीं। कुछ क्रूर तथा अत्याचारी दैत्य अपनी अपार क्षमता के बल पर विश्व में अन्यायपूर्ण शासन चलाया करते थे। यह सच है कि आज हमें रावण, कुम्भकर्ण, कंश, हिरण्यकशिपु जैसे आसुरी व्यक्ति दिखाई नहीं देते, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि आज के युग में इन आसुरी शक्तियों का पूर्णतः अभाव हो। अब इन शक्तियों ने अपना स्थूल रूप छोड़कर सूक्ष्म रूप धारण कर लिया है। गोस्वामी तुलसीदासजी इस युग के राक्षसों का वर्णन इन शब्दों में करते हैं –

मोह दशमौलि, तद्भ्रात अहँकार,
पाकारिजित काम विश्रामहारी।
लोभ अतिकाय, मत्सर महोदर दुष्ट,
क्रोध पापिष्ट - विबुधांतकारी॥ वि. प. ५८/४

– इस देहरूपी लंका में मोहरूपी रावण, अहंकाररूपी उसका भाई कुम्भकर्ण और अशान्तिकारी कामरूपी मेघनाद है। इसमें लोभरूपी अतिकाय, द्वेषरूपी दुष्ट महोधर और क्रोधरूपी महापापी देवान्तक आदि राक्षस भी हैं।

भौतिक विज्ञान की खोजों तथा औद्योगिक क्रान्ति ने आधुनिक जगत् में जड़वादी सभ्यता को जन्म दिया है। इसके फलस्वरूप भोगलालसा, स्वार्थपरता, लोभ आदि मानव मात्र के रोम रोम में प्रविष्ट हो चुका है; धर्म तथा सत्य पर से लोगों का विश्वास उठ गया है, नैतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है और ईश्वर के अस्तित्व को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा है। इस बार इन्हीं राक्षसों का वध करने के लिए परम सत्त्वगुण के ऐश्वर्य के साथ श्रीरामकृष्ण का अवतार हुआ है और उनके व्यावहारिक जीवन का आदर्श ही इन आसुरी वृत्तियों के नाश का परम कारगर अस्त्र है। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में, "वे संशयरूपी राक्षस के नाश हेतु महास्त्र हैं।"

१८९५ ई. में स्वामीजी ने अपने एक गुरुभाई को एक पत्र में लिखा था, "रामकृष्ण अवतार की जन्मतिथि से सत्ययुग का आरम्भ हुआ है। इस अवतार में ज्ञानरूपी तलवार से नास्तिकतारूप म्लेच्छनिवह नष्ट होंगे और सम्पूर्ण जगत् भक्ति एवं प्रेम के द्वारा एक सूत्र में बँध जाएगा।" और महात्मा गाँधी ने लिखा था, "इस सन्देववादी युग में श्रीरामकृष्ण एक सजीव तथा ज्वलन्त धार्मिक विश्वास का प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत करते हैं, जिसके द्वारा हजारों नर-नारियों को आत्मशान्ति प्राप्त हुई है।"

स्वामी विवेकानन्द अपनी छात्रावस्था में काण्ट, हेगेल, स्पेंसर आदि पाश्चात्य दार्शनिकों की पुस्तकें पढ़कर ईश्वर के अस्तित्व के विषय में संशयी बन गए थे। इस सम्बन्ध में सुनिश्चित ज्ञान पाने की उनकी व्याकुलता इतनी बढ़ गयी थी कि किसी भी

महापुरुष या सन्त से भेंट होने पर वे पूछ बैठते, "महाशय, क्या आपने ईश्वर का दर्शन किया है ?" परन्तु कोई भी उनकी इस शंका का सन्तोषजनक समाधान नहीं कर पाता। आखिरकार वे श्रीरामकृष्ण से मिले और उनके समक्ष भी उन्होंने अपना वही प्रश्न दुहराया। श्रीरामकृष्ण का उत्तर अप्रत्याशित था, "हाँ, किया है, उसी प्रकार जैसा कि तुझे देख रहा हूँ, बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से। इतना ही नहीं, तुझे भी उनके दर्शन करा सकता हूँ।"

यही धर्म की वैज्ञानिकता है। श्रीरामकृष्ण ने एक वैज्ञानिक की भाँति नरेन्द्रनाथ को अपने जीवन की प्रयोगशाला में इस प्रयोग को सम्पन्न कर सत्यापन कर लेने की चुनौती दी। आगे चलकर श्रीरामकृष्ण की कृपा से नरेन्द्रनाथ को निर्विकल्प समाधि की अनुभूति हुई। यह ऐतिहासिक घटना विज्ञान पर धर्म की और पाश्चात्य जड़वादिता पर प्राच्य आध्यात्मिकता की विजय थी। इन्हीं नरेन्द्रनाथ ने बाद में स्वामी विवेकानन्द के रूप में शिकागो में आयोजित धर्ममहासभा में भाग लेकर भारतीय संस्कृति तथा आध्यात्मिक मूल्यों की गौरवमयी ध्वजा फहराई और सम्पूर्ण विश्व में भारत के महान विचारों तथा आदर्शों का प्रचार किया।

जड़वादी सभ्यता के प्रभाव से हम लोगों के मन में यह धारणा बन गई है कि धन ही परमेश्वर है और धन के बिना इस जीवन में कुछ भी नहीं किया जा सकता। आज के युग में भी धन की माया को पूरी तौर से त्यागकर कोई जीवन-धारण कर सकता है, इसी बात को सिद्ध करने के लिए श्रीरामकृष्णदेव ने अपने जीवन में त्याग का चरम आदर्श दिखाया। उन्होंने गंगा के तट पर बैठकर रुपया तथा मिट्टी को हाथ में लिया और 'रुपया-मिट्टी', 'मिट्टी-रुपया' कहते हुए दोनों को गंगाजी में

विसर्जित कर दिया। इस प्रकार त्याग का भाव इतने तीव्र भाव से उनके रोम रोम में समा गया कि यदि भूल से भी कभी किसी धातु का उनके शरीर से स्पर्श हो जाता, तो उन्हें बिच्छू के दंश के समान पीड़ा होती। नरेन्द्रनाथ ने जब यह सुना तो वे सहसा इस पर विश्वास न कर सके। एक बार श्रीरामकृष्ण जब कलकत्ता गए तो उनकी परीक्षा लेने के उद्देश्य से नरेन्द्रनाथ ने उनके बिस्तर के नीचे एक सिक्का छिपाकर रख दिया और उसका फल देखने के लिए एक कोने में खड़े हो गए। श्रीरामकृष्ण जब कमरे में आकर बिस्तर पर बैठे तो तुरन्त ही पीड़ा से चीत्कार करते हुए उठकर खड़े हो गए, मानो किसी बिच्छू ने डंक मारा हो। भक्तों ने आकर जब बिस्तर को झाड़ा, तो वह सिक्का नीचे गिर पड़ा। श्रीरामकृष्ण की दृष्टि कोने में खड़े नरेन्द्र पर पड़ी और उनका चेहरा देखकर श्रीरामकृष्ण समझ गये कि शिष्य अपने गुरु की परीक्षा कर रहा है। जब लक्ष्मीनारायण नामक एक मारवाड़ी सज्जन उन्हें दस हजार रुपये देने को आए तो यह प्रस्ताव सुनते ही वे अचेत हो गए और बाद में उनकी अच्छी खबर ली। जब मथुरबाबू ने एक बड़ी जागीर उनके नाम कर देने की इच्छा व्यक्त की, तो श्रीरामकृष्ण छड़ी लेकर उन्हें मारने दौड़े थे। कंचन-त्याग के साथ ही कामिनी-त्याग का भी उच्चतम आदर्श हमें श्रीरामकृष्ण के जीवन में परिलक्षित होता है। पतिता हो अथवा सती, प्रत्येक नारी में वे जगदम्बा का प्रतिरूप देखते थे। अपनी सहधर्मिणी श्री सारदादेवी के साथ उनका कोई भौतिक सम्बन्ध नहीं था। उन्हें जगदम्बा मानकर श्रीरामकृष्ण ने षोडशोपचार के साथ उनकी पूजा भी की थी।

पूर्व के अवतारों में प्रभु ने दुष्टों का विनाश किया था, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने उनकी दुष्टता का विनाश कर उन्हें भक्तों एवं सन्तों में रूपान्तरित कर दिया था। योगीन-माँ नाम की एक महिला श्रीरामकृष्ण की परम भक्त थीं, परन्तु उनका भाई

हीरालाल अपनी बहन का उनके पास आवागमन पसन्द नहीं करता था। उसने मन्मथ नामक एक अपराधी को, श्रीरामकृष्ण के कलकत्ता आने पर उन्हें मजा चखाने का काम सौंपा। परन्तु परम आश्चर्य ! उसे स्वयं ही एक अलग प्रकार का मजा चखने को मिला श्रीरामकृष्ण की मधुर मुस्कान तथा पावन स्पर्श से मन्मथ अपराधी से एक परम भक्त में परिणत हो गया। श्रीरामकृष्ण अब उसके लिए 'प्रियनाथ' बन गए। इसी प्रकार गिरीश, दानाकाली, सुरेन्द्र, पद्मविनोद आदि अनेक सुरापायी भी श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आकर भक्ति-सुधा का पान करने लगे। विनोदिनी आदि थिएटर में कार्य करने वाली कई अभिनेत्रियों तथा नृत्यांगनाओं पर भी श्रीरामकृष्ण की कृपा हुई और उनकी जीवनधारा में परिवर्तन आया। श्री गिरीशचन्द्र घोष तत्कालीन बंगाल के एक सुविख्यात नाट्यकार, अभिनेता और कवि थे। वे हर प्रकार के दुष्कर्म में लिप्त थे और शराब की बोतल तो मानो उनकी जीवन-संगिनी ही हो चुकी थी। परन्तु श्रीरामकृष्ण के सान्निध्य में आते ही, वे उनके स्नेहपाश में ऐसे बद्ध हुए कि उनके सारे अवगुण अपने आप छूट गए और क्रमशः श्रीरामकृष्ण को अपना पूरा भार सौंपकर वे महान भक्त हो गए।

एक बार गिरीश बाबू के स्टार थियेटर में 'चैतन्य-लीला' नाटक का अभिनय चल रहा था और श्रीरामकृष्ण भी एक दर्शक के रूप में वहाँ गये हुए थे। उस समय गिरीश बाबू पहली बार श्रीरामकृष्ण से थियेटर में मिले थे। साधु-सन्तों के प्रति उनके मन में श्रद्धा तो थी ही नहीं। प्रणाम करूँ या नहीं – यह सोचते हुए वे पसोपेश में खड़े रहे। इतने में श्रीरामकृष्ण ने गाड़ी से उतरकर स्वयं ही नमस्कार किया। गिरीश बाबू अब क्या करें ! शिष्टाचार के नाते उन्हें भी प्रति-नमस्कार करना पड़ा। इस पर श्रीरामकृष्ण ने और भी झुककर प्रणाम किया, अतः गिरीश बाबू को भी उसी प्रकार झुकना पड़ा। तत्पश्चात् श्रीरामकृष्ण ने जमीन

पर सिर टेक कर उन्हें प्रणाम किया, अतः गिरीश बाबू को भी उसी प्रकार झुकना पड़ा। तत्पश्चात् श्रीरामकृष्ण ने जमीन पर सिर टेक कर उन्हें प्रणाम किया और गिरीश बाबू को हार मानकर प्रणाम का यह कार्यक्रम स्थगित कर देना पड़ा। इसीलिए गिरीश बाबू कहा करते थे – भगवान अपने पिछले अवतारों में धनुष-वाण, सुदर्शन चक्र आदि अस्त्रों के साथ पृथ्वी पर आए थे, परन्तु इस बार वे प्रणाम अस्त्र लेकर आए हैं। दुष्टों की दुष्टता एवं अहंकार का नाश कर, उनका भी उद्धार करने को अवतरित हुए हैं।

इस सन्दर्भ में रामचरितमानस का एक प्रसंग उल्लेखनीय है। श्रीराम के हाथों रावण का वध हो जाने के बाद इन्द्र आदि देवता प्रभु का अभिनन्दन करने आते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात यह है उनके बीच देवाधिदेव महादेव दिखाई नहीं पड़ते। शिवजी सबके अन्त में आते हैं। जब सभी देवता स्तुति आदि करके अपने अपने विमानों में सवार होकर लौट गए, तब उचित अवसर समझ कर वे प्रभु के पास आते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में –

सुमन बरषि सब सुर चले,
चढ़ि चढ़ि रुचिर बिमान।
देखि सुअवसर प्रभु पहिं
आयउ संभु सुजान॥ ६/११४ (क)

परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि शंकरजी ने भगवान की प्रशंसा करने के स्थान पर हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की –

मामभिरक्षय रघुकुल नायक।
धृत बर चाप रुचिर कर सायक॥
मोह महा घन पटल प्रभंजन।
संसय बिपिन अनल सुर रंजन॥

अगुन सगुन गुन मंदिर सुंदर ।
भ्रम तम प्रबल प्रताप दिवाकर ॥
काम क्रोध मद गज पंचानन ।
बसहु निरन्तर जन मन कानन ॥ ६/११५/२

– सुन्दर हाथों में श्रेष्ठ धनुष-बाण धारण किए हुए हे रघुकुल के स्वामी, आप मेरी रक्षा कीजिए । आप महामोह रूप मेघसमूह को छिन्न-भिन्न कर देनेवाले प्रचण्ड पवन-स्वरूप हैं और संशयरूपी वन को भस्मसात करनेवाले अग्नि-स्वरूप हैं । आप देवताओं को आनन्द प्रदान करनेवाले हैं, निर्गुण-सगुण आदि दिव्य गुणों के धाम और परम सुन्दर हैं । आप भ्रमरूपी अन्धकार का नाश करनेवाले प्रबल प्रतापी सूर्य हैं । काम-क्रोध तथा मदरूपी हाथियों का नाश करने हेतु आप सिंह के समान सेवक के मन-रूपी वन में निरन्तर निवास करें ।

इस प्रकार तुलसीदासजी यह मानते हैं कि केवल बाहर के रावण का वध करने से समस्या का समाधान नहीं होगा । मन की गहराइयों में छिपे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि राक्षसों का वध भी आवश्यक है । और हमने देखा कि किस प्रकार श्रीरामकृष्ण ने पृथ्वी पर आकर युग के प्रयोजन के अनुरूप त्याग एव विनम्रता रूपी अस्त्रों से मानव में निहित दुर्गुणों का विनाश किया ।

उद्योगपति रॉकफेलर

स्वामी विदेहात्मानन्द

जान डेविडसन रॉकफेलर (१८३९-१९३७ ई.) विश्व में अब तक के हुए धनाढ्य व्यक्तियों में सम्भवतः सर्वाधिक प्रसिद्ध रहे हैं। अमेरिका में स्वामी विवेकानन्द से उनकी भेंट हुई थी। और उस समय एक महत्वपूर्ण घटना भी हुई थी, परन्तु उसका वर्णन करने के पूर्व हम उनके आर्थिक अभ्युदय की एक संक्षिप्त रूपरेखा दे रहे हैं। १८५५ ई. में राकफेलर ने किसी व्यावसायिक प्रतिष्ठान में २५ डालर मासिक वेतन पर सहायक लेखाकार का कार्य प्रारम्भ किया। बाद में धीरे-धीरे वे खनिज तेल (पेट्रोलियम) के व्यापार में घुसे तथा तेलशोधक कारखानों का निर्माण किया। १८७० ई. में उन्होंने स्टैन्डर्ड आयल कम्पनी की स्थापना की, जिसने शीघ्र ही अमेरिका के खनिज तेल के व्यवसाय पर प्रायः एकाधिपत्य कायम कर लिया। उन्होंने विश्व के सर्वप्रथम आधुनिक 'ट्रस्ट' की स्थापना की, तथा अपने सारे उद्योग-वाणिज्य का स्वामित्व उसके अधीन कर दिया। १९११ ई. तक वे लगभग १५०० करोड़ डालर कमा चुके थे और उसी समय प्रायः ७२ वर्ष की आयु में उन्होंने अपने सक्रिय जीवन से अवकाश लिया।

स्वामीजी के साथ उनकी मुलाकात का वर्णन करते हुए मादाम काल्वे ने कहा था – शिकागो अवस्थान काल में स्वामीजी मि. क के यहाँ ठहरे हुए थे, जो कि जॉन डी. रॉकफेलर के साथ किसी व्यापार में साझेदार या सहयोगी थे। राकफेलर ने अपने मित्रों को बारम्बार अपने साथ ठहरे हुए इन असाधारण व अद्भुत हिन्दू संन्यासी की चर्चा करते पाया। कई बार उन्हें स्वामीजी से मिलने का आमन्त्रण भी मिला परन्तु हर बार वे किसी न किसी कारणवश टाल गये। यद्यपि रॉकफेलर तब तक अपने भाग्य के चरमोत्कर्ष तक न पहुँचे

थे, तो भी वे एक शक्तिशाली व दृढ़ इच्छा-शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति थे। उनसे सम्पर्क रखना तथा उनसे अपनी कोई सलाह मनवा लेना काफी कठिन कार्य था।

यद्यपि उनके मन में स्वामीजी से मिलने की इच्छा न थी, परन्तु एक दिन वे एक विशिष्ट मनोवेग से प्रेरित होकर सीधे अपने उन मित्र के घर पर जा पहुँचे, जहाँ कि स्वामी ठहरे हुए थे। रसोइये ने दरवाजा खोला तथा उन्हें स्वामीजी के रहने का कमरा बता दिया। बिना सूचना दिये या इन्तजार किये रॉकफेलर स्वामीजी के कमरे में जा पहुँचे। यह देख उनके विस्मय की सीमा न रही कि लिखने की मेज पर बैठे स्वामीजी ने नवागन्तुक की ओर नजर उठाकर देखा तक नहीं।

क्षण भर की खामोशी के पश्चात् स्वामीजी ने रॉकफेलर को उनके विगत जीवन से सम्बन्धित ऐसी अनेक बातें बताईं, जो उनके खुद के अतिरिक्त दूसरा कोई भी न जानता था। साथ ही उन्होंने रॉकफेलर को यह भी समझा दिया कि जो धन उन्होंने एकत्र किया है, वह उनका अपना नहीं है, वरन् वे उसके न्यासी (ट्रस्टी) मात्र हैं और ईश्वर ने उन्हें यह अतुल सम्पदा इसलिए प्रदान की है ताकि वे उसके द्वारा लोगों की सहायता व उपकार करने का सौभाग्य पा सकें।

भला रॉकफेलर को कोई यह बताने का साहस करे कि उन्हें क्या करना चाहिए और क्या नहीं! वे झल्लाकर विदा लिए बिना ही कमरे से बाहर निकल आए। लगभग एक सप्ताह बाद वे पुन बिना किसी पूर्व सूचना के आए और स्वामीजी के अध्ययन-कक्ष में प्रवेश किया। उन्होंने स्वामीजी को उसी मुद्रा में बैठे देख उनकी मेज पर एक कागज फेंक दिया, जिसमें एक सार्वजनिक संस्था को एक बड़ी धनराशि दान करने की योजना थी।

रॉकफेलर ने कहा– "महाशय! अब तो आप सन्तुष्ट होंगे और मुझे इसके लिये धन्यवाद देंगे।" स्वामीजी ने न तो आँखें

उठाई और न ही अपनी जगह से हिले। उस कागज को हाथ में उठाते हुए वे बोले, "धन्यवाद तो बल्कि आपको मुझे देना चाहिये।" जनहित के कार्यों हेतु रॉकफेलर का यह प्रथम बड़ा दान था।

यह घटना १८९४ ई. में घटी थी। यद्यपि १८९१ ई. में वे एक बड़ी राशि देकर शिकागो विश्वविद्यालय की स्थापना में योग दे चुके थे, परन्तु ब्रिटानिका विश्वकोष[२] के अनुसार १.८९७ ई. के बाद से उन्होंने अपने को पूर्णतः बहुजनहिताय कार्यों में नियोजित कर दिया। १९०१ ई. में उन्होंने न्यूयार्क में चिकित्सा-विज्ञान संस्थान की स्थापना की जो बाद में रॉकफेलर विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। १९०२ ई. में उन्होंने शिक्षा बोर्ड तथा १९१३ ई. में रॉकफेलर फाउण्डेशन की स्थापना की। उक्त संस्था ने अपने अस्तित्व के प्रयम ५० वर्षों में जनकल्याणार्थ प्रायः ७६ करोड़ डॉलर व्यय किये थे। रॉकफेलर फाउण्डेशन अब भी अमेरिकी अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग है।

विस्तृत तथ्यों के अभाव में यह कह पाना कठिन है कि धनकुबेर रॉकफेलर पर अकिंचन संन्यासी विवेकानन्द के शब्दों का कैसा व कितना प्रभाव हुआ था, तथापि यह बात निश्चित है कि रॉकफेलर ने अपने धन को जनहित के कार्यों में लगाकर वर्तमान युग के लिये एक अभिनव आदर्श प्रस्तुत किया था। परवर्ती काल में रॉकफेलर कहा करते थे, "जीवन में सिर्फ धन अर्जित करने की अपेक्षा भी उत्कृष्टतर कार्य हैं। धन तो व्यक्ति के हाथ में सौंपा हुआ एक (सामाजिक) ट्रस्ट है, जिसका अनुचित उपयोग एक बड़ा पाप है। दूसरों के कल्याण के लिये जीवन बिताना मृत्यु के लिए प्रस्तुत होने का सर्वोत्तम उपाय है। मैं वही करने का प्रयास कर रहा हूँ।"

2. Encyclopaedia Britanica, Ed. 1983, Micropaedia Vol. 8, p. 623

द्रव्य को द्रवीभूत होना चाहिये । धन-सम्पदा समाज रूपी शरीर में रक्त के समान है । शरीर का सारा रक्त हृदय की ओर प्रवाहित होता है और हृदय उसका शोधन कर उसे हर अंग-प्रत्यंग में व्यवस्थित रूप से वितरित करता रहता है । अब यदि शरीर का कोई एक अंग रक्त का प्रवाह रोककर उसे अन्य दिशाओं में बहने न दे, तो वह क्रमशः पूरे शरीर के विनाश का कारण होगा । अतः धनाधिपतियों का यह कर्तव्य है कि वे धन-सम्पदा का संग्रह तो अवश्य ही करें, पर साथ ही उसे धर्म, दान व जनकल्याण के कार्यों में लगा कर पुनः समाज की ओर प्रवाहित करते रहें । एक महान सन्त ने लिखा है –

पानी बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम ।
दोऊ हाथ उलीचिये यही सयानो काम ॥

भगवान वेदव्यास भी कहते हैं कि अन्य युगों में तो धर्म करने के यज्ञ, तप आदि अन्य उपाय भी थे, पर 'दानमेकं कलौयुगे' अर्थात् कलियुग में दान ही एकमात्र धर्म है । अपनी आय का एक अश निर्धनों व पिछड़े लोगों की सेवा में लगाने पर दाता को सच्चे आनन्द व सन्तोष का अनुभव होगा । इस प्रकार समाज का सन्तुलित विकास होने पर हिन्दुओ का धर्मान्तरण भी रुक सकेगा । यदि प्रत्येक समर्थ व्यक्ति या समूह कुछ गाँवों या निर्धन बस्तियों के आर्थिक, शैक्षणिक व सास्कृतिक उत्थान का भार उठा ले तो सम्पूर्ण राष्ट्र शीघ्रातिशीघ्र स्वस्थ, उन्नत और समृद्ध हो उठेगा ।

पुण्यतीर्थ मायावती

मोहनसिंह मनराल
(पो. - बिठोली, जि. - अल्मोड़ा)

विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द १८९६ ई. के ग्रीष्म में अपने अंग्रेज शिष्य-दम्पति श्री एवं श्रीमती सेवियर के साथ यूरोप की यात्रा पर गये । विश्राम के निमित्त इस यात्रा में जब वे स्विट्जरलैण्ड के अद्भुत प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे, उनके मस्तिष्क में हिमालय के सौन्दर्य का दृश्य घूमता गया । आल्प्स पर्वत की तलहटी में माण्ट ब्लेंक और लिटिल सेण्ट वर्नार्ड पहाड़ियों के बीच एक छोटे से गाँव में निवास कर रहे स्वामीजी के चिर क्रियाशील मस्तिष्क में हिमालय की वादियों में एक ऐसे आश्रम की स्थापना का विचार आया, जहाँ उनके पूर्व व पश्चिम के शिष्यगण अद्वैत ज्ञान की व्यावहारिकता को कार्यरूप में परिणत कर सकें । उन्होंने अपनी इस कल्पना से श्री एवं श्रीमती सेवियर को अवगत कराया, जिन्होंने उसे साकार करना अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया ।

श्री एवं श्रीमती सेवियर स्वामीजी के साथ उसी वर्ष इंग्लैण्ड से भारत चले आये । स्वामीजी की तीसरी अल्मोड़ा यात्रा (११ मई से १० जून १८९८ ई.) के दौरान श्री एवं श्रीमती सेवियर ने अल्मोड़ा शहर के पश्चिमी छोर पर स्थित 'थामसन हाउस' को किराये पर लेकर स्वामीजी के प्रवास की व्यवस्था की थी । इस भवन में स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों, और भारतीय एवं विदेशी शिष्यों के साथ निवास किया । इसी स्थान को उन्होंने अपने अग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के द्वितीय चरण के प्रकाशन का कार्यालय बनाया । स्वामीजी तो काश्मीर की यात्रा पर चले गये

और इधर श्री सेवियर उनके स्वप्न को साकार करने के प्रयास में जुट गये।

श्री सेवियर को अलमोड़ा से ५० मील की दूरी पर लोहाघाट के निकट सघन वनांचल में स्थित एक स्थान स्वामीजी की कल्पनाओं के अनुरूप पसन्द आया। यह भारतीय सेना के एक अवकाश-प्राप्त जनरल मि. मैकग्रेगर का चाय-उद्यान था, जो समुद्र तल से ६,४०० फीट की ऊँचाई पर गगनचुम्बी देवदार के घने वृक्षों से ढँका था। इस निर्जन वनप्रदेश को स्वामीजी की सहमति के उपरान्त अद्वैत आश्रम में बदलने का निर्णय लेकर श्री सेवियर ने अपनी अद्भुत अन्तर्दृष्टि तथा सघन क्रियाशीलता का परिचय दिया। यही स्थान 'माईपट' से 'मायावती' का नाम लेकर विकसित हुआ और विश्वविख्यात तीर्थ क्षेत्र में बदल गया। इस पावन स्थल पर जहाँ प्रकृति की नीरवता कभी टूटने का नाम ही न लेती थी, १९ मार्च १८९९ ई. को श्रीरामकृष्णदेव के पुनीत जन्मदिवस के अवसर पर अद्वैत आश्रम की स्थापना हुई।

स्वामी विवेकानन्द ने मायावती (हिमालय) में अद्वैत आश्रम की स्थापना के बारे में अपने विचार इन शब्दों में व्यक्त किये थे – "जहाँ कहीं भी प्रेम का विस्तार हुआ है अथवा व्यक्ति या समुदाय के कल्याण की वृद्धि हुई है, इस शाश्वत सत्य – 'समस्त प्राणियों का एकत्व' के ज्ञान, अनुभव और व्यवहार द्वारा ही हुई हैं। अद्वैत ही एकमात्र दर्शन है जो मनुष्य को अपनी पूर्ण उपलब्धि कराता है, अपना स्वामी बना देता है। व्यक्तियों के जीवन के उदात्त और मनुष्य जाति को सम्प्रेरित करने के अभियान में इस सत्य को अधिक मुक्त और पूर्ण अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से हम इसकी स्थापना कर रहे हैं।"

मायावती में स्वामीजी

मायावती आश्रम का सुविस्तृत वनप्रदेश, तथा मनोरम जलवायु उसे पृथ्वी पर नैसर्गिक स्वर्ग के रूप में रेखांकित करता है। केवल इतना ही नहीं, इस स्थान पर आधुनिक युग के महान् मनीषी आत्मयोगी, कर्मयोगी और देशभक्त संन्यासी स्वामी विवेकानन्द ने अपने जीवन के पन्द्रह दिन बिताए थे। अपने प्रियभक्त श्री सेवियर की २८ अक्तूबर, १९०० ई. को हुए देहान्त के समय स्वामीजी द्वितीय पश्चिमी देशों की अपनी यात्रा पर थे। ९ दिसम्बर, १९०० ई. को अचानक ही वे बेलुड़ मठ पहुँचे और यथाशीघ्र पहाड़ों की कड़कड़ाती सर्दी, ओलावृष्टि, हिमपात की परवाह न करते हुए मायावती की यात्रा पर चल पड़े। अपने खराब स्वास्थ्य के बावजूद वे ३ जनवरी, १९०१ ई. को मायावती जा पहुँचे। दृढ़ संकल्पशालिनी महिला श्रीमती चार्लट एलीजाबेथ सेवियर ने उनका स्वागत किया। उन्होंने अपने पति श्री सेवियर के निधन का शोक, शान्ति व सबलचित्त के साथ सहन किया था।

स्वामीजी ने ६ जनवरी को मायावती से अपने एक पत्र में श्रीमती ओली बुल को लिखा, "यह स्थान अत्यन्त ही सुन्दर है एवं इन लोगों ने इसे और भी मनोरम बनाया है।" स्वामीजी १८ जनवरी को मायावती से लौट पड़े और चम्पावत, सुखीढाँग होते हुए २४ जनवरी को बेलुड़ पहुँचे। इस प्रकार नव शताब्दी के शुभागमन पर 'मानव संघर्ष की चरम अवस्था – समर्पण के रूप में प्रभु के चरणों का अखण्ड आश्रय ही एकमात्र लक्ष्य है'– इस महाभाव को मायावती में जाग्रतकर स्वामीजी उसे एक महातीर्थ में परिणत करते हुए कह गये, "दुःख के बोझ से

जर्जरित जो जहाँ कहीं भी हो चले आओ। अपना सारा बोझ मुझे देकर तुम अपनी इच्छानुसार चलते रहो तथा सुखी बनो और भूल जाओ कि मेरा आस्तित्व कभी था।"

संघर्ष से समर्पण

प्रकृति का स्वर्ग देवदार के वृक्षों से घिरा चिर ध्यानमग्न मायावती स्वामीजी के गुरु-गम्भीर रूप का जीवन्त साक्षी है।

एक संन्यासी के शब्दों में – "यहाँ चारों ओर स्वामीजी ही हैं। वे आन्तरिक शक्ति से चलकर यहाँ आये, शरीर तो एक बाह्य अवलम्बन मात्र था।" मायावती पहुँचनेवाला प्रत्येक जिज्ञासु, आर्त, मुमुक्षु और पर्यटक अपने साथ भले ही कुछ भी लेकर पहुँचे, मगर जब वह यहाँ से लौटता है तो शान्ति लेकर ही लौटता है। संसार की ज्वालाओं से दग्ध मानव शान्ति चाहता है, भटकाव के उपरान्त आध्यात्मिक पथ पर सर पटकता है और ज्वालाओं एवं भटकाव की अनुभूतियाँ ही शान्ति व शीतलता का मूल्य पहचानने में सहायक होती हैं। ऐसा मानव एक बार यदि प्रकृति के जीवन्त शाहकार मायावती पहुँचे, तो खाली हाथ नहीं लौट सकता। प्रकृति की अद्‌भुत् दृश्यावली के बीच यहाँ एक साथ ही प्रकृति की कोमलता और कठोरता का अहसास होता है। पग-पग पर प्रकृति स्वयं को अभिव्यक्त करती है, मानो अपनी गोद में उठा लेना चाहती हो यह कहते हुए कि भूल जाओ कि तुम्हारा कोई आस्तित्व भी हैं।

आनन्द, सुख, शान्ति व ज्ञान की भाँति ही मानव के भीतर दया, करुणा तथा प्रेम के रुप में उसकी मूल प्रवृत्तियाँ हैं। केवल भ्रम और अज्ञान के कारण ही वह अपने आपको इनसे पृथक किये हुए है। मायावती में यह सत्य आत्मविश्लेषण के साथ

उसके सर्वाधिक निकट आता है। संघर्ष का अन्तिम छोर समर्पण है। संघर्ष प्रकृति का नियम है, मगर समर्पण उसकी नियति। संघर्ष साधना का प्राण है और समर्पण उसका अन्तिम छोर। इस समर्पण के साथ ही उसका 'मैं' हार जाता है, वह प्रकृति के साथ एकरूप हो जाता है। मायावती के अद्‌भुत प्राकृतिक व आध्यात्मिक उर्जा से भरपूर आश्रय स्थल में पहुँचते ही इन्हीं भावों से ओतप्रोत हृदय कह उठता है –

अहा ! यह प्रकृति का स्वर्ग है।
यहाँ आकर संघर्ष बदल जाता है समर्पण में
झपट पड़ती है, शान्ति चारों ओर से
अपूर्णता दूर कर देने को
रिक्त हृदय परितृप्त हो उठता है,
और अनायास ही कह उठता है -
'यही तो वह बिन्दु है
जहाँ 'मैं' की इतिश्री हो जाती है।
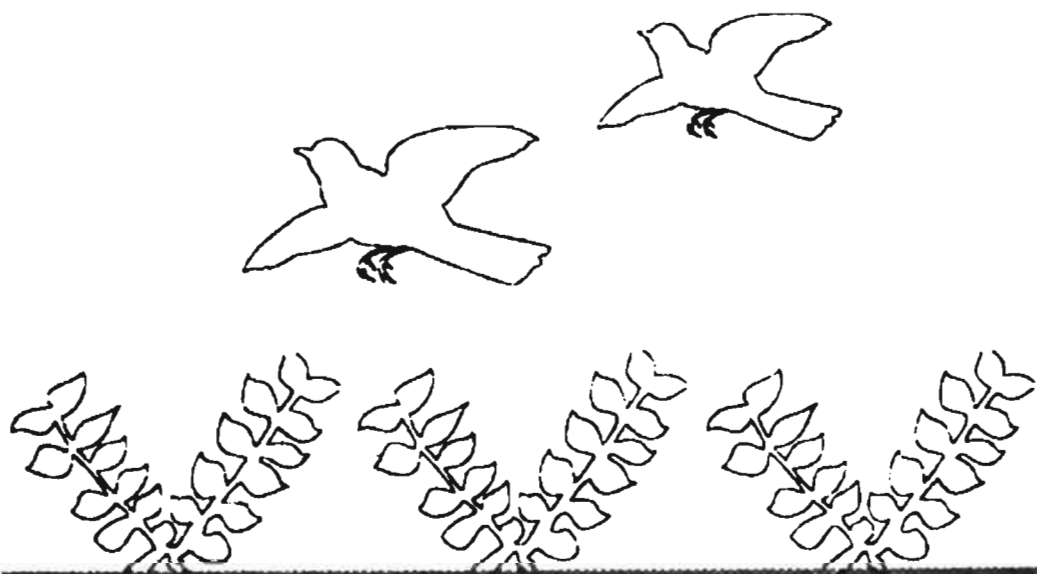
आधुनिक जीवन में शान्ति की खोज

स्वामी आत्मानन्द

आधुनिक जीवन विज्ञान और तकनीक की आभा से आलोकित है। विज्ञान की उपलब्धियाँ अपूर्व हैं। आज विज्ञान की सहायता से मानव अन्तरिक्ष को भेदकर चन्द्रमा पर उतर गया है और मंगल ग्रह में जाने की तैयारियाँ कर रहा है। वैज्ञानिक आज प्रयोगशाला में टेस्ट ट्यूब बेबी के निर्माण में लगा हुआ है और उसने भ्रूण को छः माह तक जीवित रखने में सफलता भी पा ली है। शायद वह दिन दूर नहीं जब मनुष्यों का भी निर्माण कारखाने में होने लगेगा। यह कल्पना की जा रही थी कि इन अभूतपूर्व वैज्ञानिक सफलताओं के द्वारा एक ओर जहाँ भौतिक जीवन समृद्ध हो रहा है, उसी प्रकार मानव का मानसिक जीवन भी समृद्ध होगा, वह अधिक सुखी और शान्त होगा, किन्तु यथार्थ इसका उलटा दिखाई दे रहा है। भौतिक समृद्धि के साथ मन के धरातल पर अशान्ति ही बढ़ी है और मानव आज शान्ति को दवाओं और पेयों में खोज रहा है। आज का जीवन तनावग्रस्त है और इन तनावों से हरदम के लिए छुटकारा पाने का कोई मार्ग सामने न दीख पड़ने के कारण, मानव आशु-मुक्ति के साधनों का उपयोग कर कुछ क्षणों के लिए ही सही, इस संसार की विभीषिका को भूल जाना चाहता है। उसके पास धन है, वैभव की सामग्रियाँ हैं, सोने के लिए डनलप के मोटे मोटे गद्दे और कुशन हैं, पर उसकी आँखों की नींद हवा हो गयी है, उसे ट्रांक्विलाइजर्स लेकर सोना पड़ता है। उसके पास भोजन के एक से एक सुस्वादु पदार्थ हैं, पर वह अजीर्ण के रोग से आक्रांत होकर बेचैनी से करवटें बदलता रहता है। अमेरिका जैसे सम्पन्न देश में मनुष्य कितना विक्षुब्ध है, इसकी झलक राबर्ट एस.डी.रॉय की पुस्तक 'ड्रग्स एण्ड दि माइन्ड' में मिलती है। रॉय कहते हैं, "In one year alone i.s.

in 1965-66, the sale of tranquillizers in America soared to 150 million dollars. Millions more are spent on alcohol", – यानी "एक वर्ष में ही अर्थात् १९६५-६६ में अमेरिका में ट्रांक्विलाइजर्स की खपत ११२॥ करोड़ रुपयों की हुई। शराब आदि पर तो इससे भी अधिक रुपये खर्च किये गये।" यह कहकर रॉय पूछते हैं, "Can we dispense happiness in pills ?" – "क्या हम सुख को गोलियों में भरकर दे सकते हैं ?

प्रश्न उठता है कि इतनी भौतिक प्रगति के बावजूद इतना मानसिक विक्षोभ क्यों है ? आधुनिक जीवन इतना अशान्त क्यों हैं ? सामान्य विवेचना कहती है कि असन्तोष से अशान्ति का जन्म होता है। तो प्रश्न फिर से यह किया जा सकता है कि आज इतना असन्तोष क्यों ? यदि हम असन्तोष के कारणों को ढूँढ़ सकें और उनको दूर करने के उपाय जान सकें तो अशान्ति का बीज दग्ध हो सकता है।

विचार करने पर असन्तोष के दो प्रमुख कारण दीख पड़ते हैं – एक है दिशाहीनता और दूसरा है भोगवाद। दिशाहीनता से तात्पर्य यह है कि आज का मनुष्य तेजी से भाग तो रहा है, पर वह नहीं जानता कि उसे कहाँ पहुँचना है। वह बहुत से साधन विज्ञान की सहायता द्वारा बनाकर प्रस्तुत तो कर रहा है, पर नहीं जानता कि इन साधनों का उपयोग किस प्रकार करना है। वह प्रकृति की कई महत्तर शक्तियों पर आधिपत्य तो प्राप्त कर रहा है, पर नहीं जानता कि अपने इस अधिकार का उपयोग किस साध्य को पाने के लिए करे। बर्ट्रेंड रसेल इस स्थिति का चित्रांकन करते हुए अपने 'इम्पैक्ट ऑफ साइन्स ऑन सोसायटी' नामक प्रबन्ध में लिखते हैं – "We are is the middle of a race between human skill as to means and human folly as to ends. Given sufficient folly as to ends, every increase in

the skill required to achieve them is to the bad. The human race has survived hitherto owing to ignorance and incompetence; but, given knowledge and competence combined with folly, there can be no certainity of survival. Knowladge is power, but it is power for evil just as much as for good. It follows that unless men increase in wisdom as much as in knowledge, increase of knowledge will be increase of sorrow." – यानी "हम ऐसी मानवजाति के मध्य में खड़े हैं जो एक ओर तो साधनों के उत्पादन में बड़ी कुशल है, पर दूसरी ओर साध्य के सम्बन्ध में बड़ी मूर्ख है। यदि साध्य के सम्बन्ध में पर्याप्त मूर्खता बनी रहे तो उसे प्राप्त करने के लिए कौशल में जो भी वृद्धि की जाय वह अशुभस्वरूप ही होगी। मानवजाति अब तक अज्ञानता और असमर्थता के कारण ही बची रही है। पर यदि ज्ञान और सामर्थ्य का योग मूर्खता से हो जाय तो मानवजाति के बचे रहने में संशय है। ज्ञान एक शक्ति है, पर जितनी वह अच्छाई के लिए शक्ति है उतनी ही बुराई के लिए भी। अतएव, जब तक मनुष्य विज्डम यानी विवेक के क्षेत्र में भी उतना ही नहीं बढ़ता जितना कि नॉलेज यानी ज्ञान के क्षेत्र में, तो नॉलेज की वृद्धि केवल दुखों की ही वृद्धि होगी।"

रसेल के अनुसार मनुष्य की साध्य सम्बन्धी मूर्खता ही उसकी अशान्ति का कारण है। वे दो शब्दों का उपयोग करते हैं – नॉलेज और विज्डम। उनके मतानुसार नॉलेज भले ही साधन सम्बन्धी ज्ञान दे सके, पर साध्य सम्बन्धी ज्ञान तो विज्डम से ही मिला करता है। नॉलेज के बल पर मानव आज अपने से भिन्न वस्तुओं और सुदूर ग्रह-नक्षत्रों की जानकारी प्राप्त करने में समर्थ हो रहा है, पर उसमें विज्डम का अभाव होने के कारण यह नहीं जानता कि वह स्वयं कौन है। इसी को हमने दिशाहीनता के नाम

से पुकारा है। अपने से भिन्न सब कुछ को जानने की चेष्टा करना, पर अपने स्वयं को जानने का प्रयास न करना लक्ष्यहीनता का परिचायक है। यह लक्ष्यहीनता मानव के मस्तिष्क में दिग्भ्रम पैदा करती है, जिससे उसका मन द्वन्द्वों से घिरकर अशान्त हो जाता है। इसीलिए उपनिषदों में शान्ति के खोजियों को राह प्रदर्शित करते हुए कहा गया है – 'आत्मानं विजानीहि' – अपने आपको जानो। मनुष्य का अपना आपा ही विश्व का सबसे बड़ा रहस्य है। यह रहस्य जब तक मानव अपने तईं नहीं खोल लेगा, तब तक वह बेचैन और अशान्त बना रहेगा। लिंकन बार्नेट अपनी The universe & Dr. Einstein नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक में इस रहस्य की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं –
"Man is his own greatest mystery. He does not understand the vast veiled universe into which he has been cast for the reason that he does not understand himself. He comprehends but little of his organic processes and even less of his unique capacity to perceive the world about him, to reason and to dream. Least of all does he understand his noblest and most mysterious faculty : the ability to transcend himself and perceive himself in the act of perception" – यानी, "मनुष्य स्वयं अपना सबसे बड़ा रहस्य है। वह इस विशाल अवगुंठित विश्व को नहीं समझता, न ही वह यह समझता है कि उसे इस रहस्यमय विश्व में क्यों भेजा गया है। अपने शरीर-यंत्र की प्रक्रियाओं को तो वह बहुत कम ही जानता है। उससे भी कहीं कम वह अपने चतुर्दिक संसार को देखने की, तर्क करने की और ताना-बाना बुनने की अपूर्व सामर्थ्य को जानता है। और, उसमें अपने आपको लाँघ जाने की तथा देखने की क्रिया में अपने आपको देखने की जो सबसे उदात्त और निगूढ़ क्षमता है, उसे तो वह सबसे कम ही समझता है।"

लिंकन बार्नेट शान्ति का उपाय मानव-रहस्य के उद्‌घाटन में तथा अपने आपको लाँघ जाने में देखते हैं। वस्तुतः देखने की क्रिया में अपने आपको देखने की क्षमता आत्म-साक्षात्कार की अवस्था है, जहाँ मन पूरी तरह निर्द्वन्द्व हो जाता है। इसी स्थिति को मानव-जीवन के परम प्रयोजन की प्राप्ति भी कहते हैं। इस प्रयोजन का सतत चिन्तन और स्मरण दिशाहीनता की बाधा को दूर करता है।

असन्तोष का दूसरा प्रमुख कारण है – भोगवाद। भोगवादी सोचता है कि वासनाओं के उपभोग से उनकी शान्ति होती है। इसके बदले यदि वासनाओं को दबाने की कोशिश की जाय तो यह शमन मानसिक कुण्ठाओं को जन्म देता है। मानसिक कुण्ठाएँ ही कालान्तर में शारीरिक रोग के रूप में उभरा करती हैं। अतः भोगवादी त्याग और तितिक्षा में विश्वास नहीं करता। वह अपनी इन्द्रियों को खुली छूट दे देता है। पर दुर्भाग्य यह है कि वह नहीं समझता कि एक कुण्ठा से बचने जाकर वह अनेकविध नयी कुण्ठाओं का शिकार बना जा रहा है। आधुनिक जीवन यही भोगवादी, कुण्ठाग्रस्त जीवन है, जो बेचैन है और जो शान्ति की खोज चरस, एल.एस.डी., भाँग और गाँजे में कर रहा है। भारत में कामनाओं की शान्ति का उपाय उनका उपभोग नहीं माना गया, बल्कि विवेकपूर्वक उनका शमन ही शान्ति का रसायन निरूपित हुआ। राजा ययाति का अनुभव इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। वे कहते हैं –

न जातु कामः कामानां उपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्ण वर्त्मेव भूय एवाभि वर्धते॥
यत्पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात् तृष्णां परित्यजेत्॥
या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः॥
योऽसौ प्राणान्तिको रोगः तां तृष्णां त्यजतः सुखम्॥

– "वासनाओं की निवृत्ति उनके उपभोग से नहीं होती, बल्कि घी डालने पर प्रज्वलित अग्नि के समान वे और भी बढ़ जाती हैं। पृथ्वी पर जितना अनाज, सोना-माणिक्य, पशु-धन और स्त्रियाँ हैं, वे सब एक व्यक्ति के लिए भी पर्याप्त नहीं हैं। अतएव तृष्णा का त्याग करना चाहिए। जो दुर्बुद्धियों के लिए दुस्त्यज है, जो भोगी के जीर्ण होने पर भी जीर्ण नहीं होती, जो प्राण हरनेवाला रोग है, ऐसी तृष्णा को त्यागने से ही सुख मिलता है।"

पर तृष्णा का यह त्याग एकदम से सम्भव नहीं हो पाता। हमें सेवा-कार्यों में अभिरुचि बढ़ानी पड़ती है। जो कार्य निःस्वार्थ भाव से दूसरों के हित के लिए किये जाते हैं, वे हमारी तृष्णा की जड़ पर कुठाराघात करते हैं। अतएव शान्ति के खोजी को भोगवादी न बनकर सेवाभावी बनना चाहिए। अपने आपको जानने की पहल और सेवाभाव – ये ऐसे दो साधन हैं जो जीवन में शान्ति की प्रतिष्ठा करते हैं।

सद्यः प्रकाशित नवीन पुस्तक

परम लक्ष्य की प्राप्ति हेतु
कतिपय दिशा-निर्देश

(विवेक चूड़ामणि तथा गीता पर आधारित ११ प्रवचन)

स्वामी गोकुलानन्द

पृष्ठ - १२+११५ | मूल्य - २०/- | डाकखर्च अलग से

लिखें - रामकृष्ण मिशन
रामकृष्ण आश्रम मार्ग, नई दिल्ली - ११००५५

स्वामी विवेकानन्द का कर्मयोग

डॉ. प्रमिला कुमारी
(गौतम बुद्ध महिला महाविद्यालय, गया)

सम्पूर्ण मानव जाति एवं समस्त धर्मों का चरम लक्ष्य एक ही है और वह है अमरत्व की प्राप्ति । स्वामी विवेकानन्द के मतानुसार अमरत्व की प्राप्ति योग के द्वारा होती है । लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के साधनों को मिलाकर योग कहा जाता है ।[१]

इस प्रकार योग शब्द के दो अर्थ है एक है 'मिलन' तथा दूसरे अर्थ में यह एक विशेष प्रकार की 'साधना' सूचित करता है । स्वामीजी ने इस शब्द को बड़ा ही व्यापक अर्थ दिया है । तदनुसार योग साधना तथा मिलन का सम्मिलित मार्ग है ।[२] दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि योग का सामान्य अर्थ आत्मा को परमात्मा से जोड़ना है और जब यह काम कर्म के द्वारा निष्पादित किया जाता है, तब इसे कर्मयोग कहते हैं ।

स्वामी विवेकानन्द का दर्शन कर्म पर सर्वाधिक बल देता है । उसकी विशेषता यह है कि वह केवल चिन्तक को नहीं, बल्कि कर्मठ मनुष्य को भी अपनी ओर आकर्षित करता है । विवेकानन्द इस बात से सहमत नहीं है कि इस जन्म में प्राप्त भौतिकसुख सुविधाओं को त्यागकर मनुष्य अगले जन्म में शाश्वत सुख भोग सकता है । उनका कहना है कि इसी आधार पर शताब्दियों तक हिन्दू समाज में व्याप्त सामाजिक भेद-भाव एवं अत्याचार को न्यायोचित ठहराया जाता रहा है । वे कहते हैं कि 'मैं ऐसे ईश्वर में विश्वास नहीं करता जो स्वर्ग में तो मुझे आनन्द देगा, किन्तु इस संसार में मुझे अन्न भी नहीं दे सकता ।[३]

---

१ समकालीन भारतीय दर्शन, डॉ. लक्ष्मी सक्सेना, द्वि.स १९८३. पृ ७६-७७

२ समकालीन भारतीय दर्शन, बसन्त कुमार लाल, तृ.सं. १९९२. पृ. ४०

३ भारतीय दर्शन, डॉ. न. कि. देवराज, तृ.सं. १९८३. पृ. ६५३-५४

स्वामीजी के मतानुसार कर्मयोग नीति-विषयक तथा धर्मशास्त्रीय एक सुनिश्चित व्यवस्था है। अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर कुछ शास्त्रसम्मत तथा नैतिक दृष्टि से कुछ शुभ कर्मों को करना ही कर्म मार्ग हैं। यह कर्म पर बल देता है तथा किसी प्रकार की संन्यास की अनुशंसा नहीं करता। कर्ममार्गी को जगत में ही रहना है, शुभ-अशुभ, दुःख-सुख के बीच रहना है, क्योंकि कर्म तो जीवन और इस जगत में ही किये जा सकते हैं। स्वार्थ से ऊपर उठकर कार्य करने का अर्थ यह है कि इससे कर्म एक प्रकार से निष्काम ही होंगे। स्वामीजी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि कर्मों में लिप्तता नहीं होनी चाहिए। उन्होंने बताया कि कर्ममार्गी कर्मों का दास नहीं बनता। वे गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म के सिद्धान्त से बड़े प्रभावित लगते हैं। वे कहते हैं कि कर्मों की वास्तविक सार्थकता इस बात में है कि हम उनसे प्रतिदान स्वरूप कुछ पाने आशा न रखें। कर्ममार्गी का कर्म 'स्वार्थ' से परिचालित नहीं होता, बल्कि उसके कर्मों की मूल प्रेरणा मुक्तिरूपी चरम लक्ष्य है। अतएव वह सामान्य जागतिक वस्तुओं के भोग हेतु कर्म नहीं करता। स्वामीजी ने साधारण कर्म तथा कर्ममार्गी के कर्म के बीच के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए गौतम बुद्ध के जीवन का उदाहरण लिया है, जो निर्वाण-प्राप्ति के बाद भी दीर्घ अवधि तक 'कर्म' करते रहे। उनके कर्म निष्काम कर्मयोग के आदर्शानुरूप हैं। सब कुछ त्यागकर निकल आने के बाद भी उनका परवर्ती जीवन पलायनवादी नहीं रहा। वे मनुष्यों के मध्य ही घूमते रहे, बहुजनहिताय कर्म करते रहे तथा प्रतिदान में अपने लिए कुछ पाने का प्रश्न ही वहाँ नहीं था – यही कर्म का सर्वोच्च आदर्श है।[४]

---

४ समकालीन भारतीय दर्शन, बसन्त कुमार लाल, पृ. ४४

इस तरह से हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द का कर्मयोग गीता के कर्मयोग के ही अनुरूप है । केवल वही कर्म जो निष्कामतापूर्वक लोक-कल्याण की भावना से किया जाता है, बन्धन का कारण नहीं होता । कर्ममार्ग ही वस्तुतः एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलकर मनुष्य अपनी नैतिक एवं अध्यात्मिक उन्नति कर सकता है । फिर भी कर्म को ज्ञान एवं भक्ति से अलग नहीं रखा गया है । बल्कि जहाँ कहीं भी ये आते है, एक दूसरे के परिपूरक के रूप में आते हैं । योगी कर्मों के फल का त्याग तभी करता है, जब उसमें समता का भाव जगता है, किसी प्रकार की लालसा नहीं रह जाती । यह समता का भाव ही ज्ञान है । साथ ही योगी की ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा होती है, जिसके कारण वह जो कुछ भी करता है, उसे ईश्वर को समर्पित करके करता है । वह मानता है कि फल ईश्वर के हाथ में है । अतः निष्काम कर्म की पूर्ति ज्ञान और भक्ति के बिना नहीं हो सकती । अतएव स्वामीजी ज्ञान, भक्ति एवं कर्म को परस्पर सर्वथा असम्बद्ध मार्ग नहीं मानते । वे इन्हें पूर्णता की ओर ले जाने वाले एक ही मार्ग के तीन खण्ड के रूप में स्वीकार करते हैं ।

'पलायन द्वारा मुक्ति' का सिद्धान्त स्वामीजी को सर्वथा अप्रिय है । उन्हीं के प्रेरक शब्दों में - "संसार में डूबकर कर्म का रहस्य सीखो । संसार यंत्र के पहियों से भागो मत । इसके भीतर खड़े होकर देखो कि यह कैसे चलता है । तुम्हें उससे निकलने का रास्ता अवश्य मिलेगा ।"

इस प्रकार स्वामी विवेकानन्द का व्यावहारिक आदर्श मानव-केन्द्री तथा अत्यन्त क्रियावादी है । इसके साथ ही वे बारम्बार गीतोक्त निष्काम कर्म पर भी बल देते हैं । वे कहते हैं कि हम यह आशा तो नहीं कर सकते कि हमारा प्रत्येक कार्य किसी न किसी परमार्थ से प्रेरित हो सकता है । किन्तु हम यह

आशा अवश्य कर सकते हैं कि मनुष्यों में आत्मा और शरीर दोनों ही होने के कारण वे भौतिक लाभ के विचार के प्रति एक प्रकार की उदासीनता अपने भीतर उत्पन्न करें। यद्यपि स्वामीजी का सारा जीवन संघर्ष तथा निरन्तर क्रियाशीलता में बीता, तथापि उन्होंने अपने भीतर यह निष्काम-भाव अधिकतम मात्रा में जाग्रत कर लिया था।[५]

आधुनिक भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में स्वामीजी ने ही सर्वप्रथम 'दरिद्रनारायण' अर्थात् निर्धनों-पीड़ितों की सेवा का आदर्श स्थापित किया। संन्यास की नये ढंग से परिभाषा करते हुए उन्होंने रामकृष्ण मिशन के सभी सदस्यों को अकाल तथा महामारी से पीड़ित व्यक्तियों की सेवा करने की प्रेरणा दी।

इस तरह से हम देखते हैं कि स्वामी विवेकानन्द की शिक्षाएँ मानवतावादी तथा कर्मठतावादी हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की ही भाँति उनका भी आध्यात्मिक-मानवतावाद में विश्वास हैं। स्वामीजी यंत्रवत कर्म करने के पक्षधर नहीं हैं। वे गीता के निष्काम कर्मयोग को नए रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके मतानुसार अनासक्त भाव से कर्म करने पर हमें वही स्थिति प्राप्त हो सकती है, जो ज्ञानयोग अथवा भक्तियोग के साधकों को होती है। नैतिकता के उच्चतम आदर्शों की पूर्ति व्यावहारिक जीवन में ही संभव है, परन्तु इसके लिए हमारा दैनन्दिन जीवन एक सुदृढ़ आध्यात्मिक नींव पर सुप्रतिष्ठित होना चाहिए।[६]

५. आधुनिक भारतीय चिन्तन, वी. एस. नरूणे, प्र. सं. १९६६, पृ. ११२-१४

६ भारतीय दर्शन, डॉ. नन्दकिशोर देवराज, तृ. सं. १९८३, पृ. ६५४-५५

वेदान्त और जीवन

स्वामी रंगनाथानन्द

(उपाध्यक्ष, रामकृष्ण एवं रामकृष्ण मिशन)

स्वामी विवेकानन्द का सारा संदेश वेदान्त पर आधारित है। दस खण्डों में उपलब्ध सम्पूर्ण विवेकानन्द साहित्य में न केवल वेदान्त की बातें लिखी हैं, वरन् स्वामीजी ने यह भी बताया है कि हम अपने व्यावहारिक जीवन में उन्हें किस प्रकार प्रयोग में ला सकते हैं।

किन्तु वेदान्त है क्या ? हम सदियों से वेदान्त की बातें सुनते आ रहे हैं। लेकिन आम लोगों की पकड़ में वे बातें नहीं आतीं। धारणा यह बनी है कि ऐसा विषय जो कोई समझ न पाए, वेदान्त हैं। स्वामी विवेकानन्द के समय यही भ्रान्ति फैली थी। दिल्ली में एक धार्मिक सभा का आयोजन था। एक संन्यासी रोज वेदान्त पर पाण्डित्यपूर्ण प्रवचन देते। ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, ऐसी-ऐसी गूढ़ बातें वे बताते। उनका प्रवचन सुनने महिलायें भी आतीं। एक दिन किसी ने एक वृद्ध महिला से पूछा – "माताजी, क्या सुना आपने ? महात्माजी ने क्या बातें बतायीं ?" महिला बोलीं, "महात्माजी ने वेदान्त की बड़ी-बड़ी बातें कहीं।" सज्जन ने पूछा, "वेदान्त की क्या बातें कहीं ?" महिला बोलीं, "हम तो महिलायें है, भला क्या समझेंगी।" मतलब यह कि जो हम नहीं समझते वही वेदान्त है।

स्वामी विवेकानन्द जिस समय आए उस समय इस देश की ऐसी ही हालत थी। आम धारणा यही थी कि जो समझ में नहीं आए वही वेदान्त है। स्वामीजी ने इस स्थिति को परखा था। उन्होंने वेदान्त के विचारों को सुन्दर भाव से हमारे सामने रखा और बताया कि उसे हम अपने दैनन्दिन जीवन में कैसे उतार सकते हैं, ताकि यह भारत, जिसे पाँच हजार साल तक जो गरिमा

प्राप्त थी, उससे भी अधिक गरिमा प्राप्त कर सके। हमारे पीछे पाँच हजार साल का इतिहास है और आधुनिक समय में कुछ ऐसी बातें है, जो नए रूप में हमारे सामने आयी हैं और हमें ऊपर उठाने के लिए अवसर प्रदान करती है – यथा आधुनिक विज्ञान, आधुनिक लोकतांत्रिक नीतियाँ और हमारा दर्शन। इन सभी को मिलाकर स्वामी विवेकानन्द ने एक दृष्टि दी है, एक जीवन-दर्शन दिया है, जिन्हें अपनाने से किंचित शक्ति आयेगी, निर्भयता उपलब्ध होगी, अभेद दृष्टि आयेगी – 'हम सभी एक हैं।' तब भेदभाव कम हो जायेगा। और यह होगा विवेकानन्द साहित्य के मनन से, जो कि वेदान्त की बातों को व्यवहार में उतारने का संदेश देता है।

उपनिषदों में मनुष्य की महिमा का वर्णन है और यह बताया गया है कि उस महानता को प्राप्त करने के लिए हम किस प्रकार जीवन-यापन करें। उपनिषदों ने कहा कि सारी शक्ति मनुष्य के अन्दर निहित है और यह बताया कि अपने अन्दर छिपी आत्मशक्ति को हम किस प्रकार जगा सकते हैं। उपनिषदों में यह महान भाव हर वक्त गूँजा हैं – 'निर्भयता-निर्भयता,' 'आत्मशक्ति-आत्मशक्ति'. 'आत्मश्रद्धा-आत्मश्रद्धा'। और यही तो आज हमें चाहिए। सौ साल पहले इन महान भावों को हमने भुला दिया था। न निर्भयता थी और न आत्मश्रद्धा। जब स्वामीजी आए उस समय हम अंग्रेजों के अधीन आत्मशक्ति आत्मश्रद्धा खोकर बिलकुल निष्प्राण बने थे।

स्वामीजी वेदों, उपनिषदों में वर्णित मुनष्य की महानता से परिचित थे। उन्होंने जाना था कि प्राचीनकाल के भारतीय ऋषियों ने ब्रह्मत्व प्राप्त किया था। लेकिन उनके मन में यह सवाल बार-बार कौंधने लगा कि यह तो प्राचीन भारत की तस्वीर है, आधुनिक भारत कैसा है ? ऐसा प्रश्न उनके पहले किसी भी उपदेशक ने नहीं किया था। आज भारतीय कैसे रहते हैं ? इस पिपासा के साथ उन्होंने परिव्रजक के रुप में भारत भ्रमण किया

और देखा कि कोटि कोटि भारतवासी जानवर की तरह जीवन यापन कर रहे हैं और उच्च कुल के लोग महलों में ऐशो-आराम करते हुए उनका तनिक भी ख्याल नहीं करते। जो ऊँचे कुल के थे उनमें केवल स्वार्थपरता थी और कुछ नहीं। यह देख स्वामीजी खूब रोये। कन्याकुमारी में एक शिला पर वे ध्यान करने बैठे। ध्यान का विषय क्या था ? और कुछ नहीं, बस यही प्रश्न कि ऐसा क्यों हुआ ? मनुष्यता का गौरव कोटि-कोटि पददलितों को कैसे मिले – यही था उनके ध्यान का विषय; जिन्हें इतना दबा कर रखा गया है उन्हें किस प्रकार उठाये जा सके। अतएव स्वामीजी के लिए मनुष्य ही था ध्यान का विषय, न कि मनुष्य से अलग कोई ईश्वर। वेदान्त कहता है कि सबके अन्दर परमात्मा है। लेकिन यह तो केवल किताब की बातें है। व्यावहारिक जीवन में तो हम एक दूसरे में शैतान को ही देखते हैं, एक दूसरे से घोर नफरत करते हैं। ऐसा विरोधाभास किसी देश में नहीं, यह स्वामीजी ने देखा था। हमें मानव महिमा का गान करनेवाले अपने ग्रन्थों पर अभिमान है, पर व्यवहार में हम छुआछूत जैसी अमानवीय भावना से ग्रस्त हैं। स्वामीजी ने देखा कि वेदान्त, जो इतना उच्च भाव सिखाता है, को लेकर नया भारत गढ़ा जा सकता है, बशर्ते कि उन्हें व्यवहार में उतारा जाय।

कुछ लोग महलों में ऐश करते हैं और कुछ लोग भूखों मरते हैं। ऐसा क्यों हैं ? हमारी मनोभावना में कहीं न कहीं जरूर कोई खोट है। वेदान्त कहता है कि सभी में एक ही ब्रह्म विद्यमान है। फिर मानव-मानव में इतना भेद क्यों ? इसलिए कि हमने वेदान्त की बातों को जीवन में नहीं उतारा। अतीत से भी अधिक समुन्नत और समुज्ज्वल भारत का स्वप्न देखनेवाले स्वामी विवेकानन्द ने इसे बड़ी गहराई से समझा था और इसीलिए उन्होंने वेदान्त की दृष्टि को व्यावहारिक जीवन में अपनाने का बारम्बार आह्वान किया।

पर इस विडम्बना का कारण क्या है ? इसका कारण है हमारे मन पर देह का निरंकुश शासन । मानव मन की दैहिक निरंकुशता ही सारे अनर्थों की जड़ है । हम अपने देह को ही सब कुछ समझकर झगड़ते हैं, हिंसा में लिप्त होते हैं, पापाचार करते हैं, केवल अपना भला चाहते हैं, दूसरों के दुःख-दर्द की परवाह नहीं करते । वर्तमान समय में यह दैहिक निरंकुशता, अपने देह को ही सब कुछ मान बैठने का भाव, जबरदस्त रूप से विद्यमान हैं ।

आसमान में कहीं पर जगत से परे बैठा ईश्वर– उपनिषद् का ईश्वर नहीं है । उपनिषद् तो ईश्वर को एकमात्र सत्ता के रूप में चित्रित करता है, जो समस्त ब्रह्माण्ड और हर व्यक्ति के अन्दर विराजमान है । यह बोध युगों तक हमारे देश में रहा है और महान संतो ने इस महान सत्य का अनुभव किया है कि मनुष्य तत्त्वतः दिव्य है, कि सभी व्यक्तियों का वास्तविक स्वरूप दिव्य है । लेकिन यह भाव ऋषियों-सन्तों तक ही सीमित रहा । लाखों करोड़ों लोगों के मन पर तो देह का ही निरंकुश शासन है ।

पर स्वामी विवेकानन्द ने कहा – आध्यात्मिकता पर केवल जंगल में रहनेवाले संन्यासियों-सन्तों और योगियों का ही विशेषाधिकार नहीं है । यह तो प्रत्येक व्यक्ति का जन्मसिद्ध अधिकार है । प्रकृति ने हमें आध्यात्मिक सत्य अर्जित करने की क्षमता दी है । जरूरत केवल इस बात की है कि हम अपने आप पर विश्वास करें, आत्मशक्ति जाग्रत करें, इसका उपयोग करें और इस प्रकार दैनन्दिन जीवन व्यतीत करें कि आध्यात्मिक रूप से विकसित होते चले जायें ।

स्वामी विवेकानन्द ने आह्वान किया – हमारी जो महान विरासत है उपनिषद्-वेदान्त – उसे पढ़ो । उसे समझने की कोशिश करो, जहाँ मनुष्यत्व की बात कही गयी है । उन्होंने कहा कि ऐसी किताबें पढ़ो कि आत्मा की शक्ति बढ़ जाय और हृदय

विशाल हो जाय। स्वामीजी के शब्दों में – "शंकराचार्य का मस्तिष्क और बुद्ध का हृदय – दोनों का ही हमारे अन्दर विकास होना चाहिए।" केवल एक से नहीं होगा। गीता उपनिषदों का निचोड़ है। सभी उपनिषद् गाय है। बछड़ा है अर्जुन और भगवान श्रीकृष्ण गोपाल हैं। सुधि भक्तों को शक्ति मिले इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने यह दूध हमारे सामने रखा है। लेकिन हमने क्या किया? उसे सिर से लगाये रखा। सब कुछ किया, पर उसे पीया नहीं। स्वामी विवेकानन्द ने इस दूध को पीने का आह्वान किया। उन्होंने कहा – उपनिषद् तथा गीता पढ़ो और उससे जो दृढ़ संकल्प जगेगा, शक्ति मिलेगी; उसे व्यवहार में उतारने की कोशिश करो।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म मानने की चीज नहीं, बल्कि अनुभव का विषय हैं। सन्तों-ऋषियों ने जो कुछ कहा है, हम उसकी जाँच करें, उसे अनुभव करें और अपने सारे क्रिया-कलापों में, प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों का समान रूप से अनुपालन करते हुए आत्मा की दिव्यता को प्रकट करें।

लेकिन प्रवृत्ति और निवृत्ति है क्या ? प्रवृत्ति का मतलब है कर्म में कुशलता और निवृत्ति से तात्पर्य है – ध्यान, चिन्तन, मनन तथा आध्यात्मिक साधना। धन-सम्पत्ति, प्रभुत्व, नाम-यश के लिए, अपने मधुर अहं के लिए कौशलपूर्वक काम करना, खाना-पीना, अच्छा रहना, यह सब प्रवृत्ति से होता है, ध्यान से नहीं होता। मन्दिर में आरती करने से फसल नहीं होगी। इसके लिए तो काम करना होगा – वैज्ञानिक तरीके अपनाकर, कौशलपूर्वक क्रियाशील होकर। सो काम करो, एक दूसरे को सहयोग देते हुए काम करो, अकेले अकेले नहीं। जब काम हो गया तो थोड़ा समय निकालकर ध्यान करो, मनन करो, पूजा करो, अच्छी किताबें पढ़ो। यही निवृत्ति है। जब अपने मधुर अहं के लिए कर्म पूरा हो गया तब

निवृति का उदय होता है और तभी नैतिकता और धर्म का आरम्भ होता है। स्वामीजी के शब्दों में, "निवृत्ति ही सारी नैतिकता एवं सारे धर्म की नींव है और इसकी पूर्णता ही सम्पूर्ण 'आत्मत्याग' है, जिसके प्राप्त हो जाने पर मनुष्य दूसरों के लिए अपना शरीर, मन, यहाँ तक कि अपना सर्वस्व निछावर कर देता है। सत्कार्यों का यही सर्वोच्च फल है। किसी मनुष्य ने चाहे एक भी दर्शनशास्त्र की पुस्तक न पढ़ी हो, किसी प्रकार के ईश्वर में विश्वास न किया हो और न करता हो, चाहे उसने अपने जीवन भर में एक बार भी प्रार्थना न की हो, परन्तु केवल सत्कार्यों की शक्ति द्वारा उस अवस्था में पहुँच गया है जहाँ वह दूसरों के लिए अपना जीवन और सब-कुछ उत्सर्ग करने को तैयार है, तो हमें समझना चाहिए कि वह उसी लक्ष्य को पहुँच गया है जहाँ भक्त अपनी उपासना द्वारा तथा दार्शनिक अपने ज्ञान द्वारा पहुँचता है।"*

ऐसी गीता स्वामी जी ने हमारे सामने रखी। कोटि कोटि जन में मनुष्यत्व का गौरव जगाने के लिए, एक नए भारत, अतीत से भी अधिक उज्जवल भारत के अभ्युदय के लिए कर्म करते जाओ और ऊपर उठते जाओ, यही है स्वामी विवेकानन्द का व्यावहारिक वेदान्त। "उठो जागो और रुको नहीं, जब तक कि मंजिल पा न लो।" – उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।" स्वामीजी के व्यावहारिक वेदान्त का यही उद्घोष है और इसी से सच्चा धर्म प्रकट होता है।

(१७ अप्रैल १९९२ को रामकृष्ण मिशन आश्रम, राँची के तत्वाधान में उपरोक्त विषय पर प्रदत्त व्याख्यान का सारांश)

* विवेकानन्द साहित्य, खण्ड-३, पृष्ठ ६०-६१

स्वामी तुरीयानन्द के उपदेश

(मूल बँगला पत्रों से संकलित तथा अनुदित)

– ४२ –

संसार में सुख-दुःख तो लगे ही रहते हैं। इन सबके हाथ से पूर्णरूपेण मुक्त हुए क्या किसी को, कहीं भी तुमने देखा है ? ऐसा होना असम्भव है। संसार द्वन्द्वमय है और केवल परमात्मा के भजन से ही जीव द्वन्द्वमुक्त हो सकता है। तात्पर्य यह कि सुख-दुःख न रह जाय ऐसी बात नहीं, परन्तु उनकी कृपा से ये सब उसे अधीर नहीं कर सकेंगे। इसीलिए तो भगवान कहते हैं - "तांस्तितिक्षस्व भारत"[१] उन्होंने यह तो नहीं कहा कि सुख-दुःख दूर हो जाएँगे। बल्कि उनका कहना है कि इन्द्रियों के साथ विषयों का सम्बन्ध होने पर सुख-दुःख अवश्यम्भावी हैं, पर हाँ वे चिरस्थायीं नहीं हैं – आएँगे और चले जाएँगे; इसलिए उन्हें सह लों। सहन करने के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय उपलब्ध होने पर भगवान उसे अर्जुन के समान अपने प्रिय शिष्य को अवश्य बतलाते। इसीलिए परमहंसदेव ने भी कहा है – "श ष स अर्थात् सहो, सहो, सहो।" मानों शपथ लेकर कह रहे हों कि इसे छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। फिर कारण भी बतलाते हैं – "जो सहे सो रहेगा, जो न सहे सो नष्ट होगा।" अतः हमें सहन करना ही होगा। सहनशीलता में ही बहादुरी है। दुःख-कष्ट तो लगे ही रहेंगे, फिर 'हाय हाय' करने से क्या लाभ ? सहन कर लेने पर कम से कम 'हाय हाय' से तो छुटकारा मिल जाता है। इसीलिए महाज्ञानी तथा भक्त तुलसीदासजी कह गये हैं –

देह धरे को दण्ड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगते ज्ञान से मूरख भुगते रोय॥

---

१ हे अर्जुन, उन्हें सहन करो। गीता २/१४

– अर्थात् देह धारण करने पर सभी को कष्ट-भोग तो करना ही होगा, परन्तु भेद इतना ही है कि ज्ञानी उस दुःख को अवश्यम्भावी और अपरिहार्य जानकर ज्ञानपूर्वक स्थिर चित्त से भोगते हैं और मूर्ख-अज्ञानीजन इस बात को न समझकर रोते-गाते, हाय हाय करते दुःखी होते हैं।

ठाकुर का यह वचन सर्वदा स्मरण रखना – "दुःख जाने और शरीर जाने, पर मन तू आनन्द में मग्न रह।" ऐसा करने पर तुम्हें दुःख-कष्ट मोहित नहीं कर सकेंगे।

– ४३ –

बिना कर्म किये बैठे रहना तुम्हारे स्वभाव के लिये उपयुक्त न होगा ; अतः प्रभु के निमित्त जनसाधारण की भलाई के लिए कर्म करना तुम्हारे लिए उचित रहेगा और इससे निःसन्देह तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति होगी। अतएव यथासाध्य कर्म के द्वारा भगवान को प्रसन्न करने का प्रयास करना। बिना कर्म किए बैठे रहकर भगवान का अविच्छिन्न चिन्तन करना अत्यन्त कठिन है और वह सभी के लिए नहीं है। मन को स्थिर रखकर नारायण ज्ञान से जीवसेवा मे लगे रहो, इसी से तुम्हारा सम्पूर्ण कल्याण होगा। पर हाँ, अपने-आपको यंत्र तथा उन्हें यंत्री समझना होगा और इस विश्वास को दृढ़ रखना होगा। ऐसा होने पर फिर कोई गड़बड़ी न होगी। सर्वदा प्रार्थनाशील रहना। हाथ से कर्म करते समय, मन ही मन यह प्रार्थना करते रहना कि वे सर्वदा हृदय में रहकर परिचालित करें। ऐसा करने पर भय की कोई बात नहीं रह जाएगी। वे अन्तरर्यामी और मंगलमय हैं, वे सभी प्रकार से मंगल करेंगे निश्चिन्त मन से उनका प्रिय कार्य किए जाओ।

– ४४ –

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥[१]

इत्यादि के द्वारा गीता में भगवान जीव का स्वरूप बतला गए हैं कि जीव उन्हीं का अंश है । वे ही इस शरीर में रहकर विषय भोग करते हैं और मृत्यु होने पर मन तथा इन्द्रियों के साथ देह से निर्गमन करते हैं । बाद में यथाकर्म, यथाज्ञान पुनः कर्मयोग के लिए शरीर धारण करते हैं । जब तक ज्ञानलाभ नहीं हो जाता, जब तक इसी प्रकार जन्म-मरण का भोग चलता रहता है । मन इन्द्रियों का राजा है; सभी इन्द्रियाँ इसी की सहायता से कर्म किए जाती है । मन के निद्रित होने पर भी प्राण जगे रहकर शरीर-धारण किए रहते हैं । देह में प्राण ही सर्वोपरि है, जिसके अभाव में शरीर को मृत की संज्ञा प्रदान की जाती है । जीव, मन और प्राण एक नहीं अलग अलग हैं । सांख्यदर्शन में सृष्टितत्व की व्याख्या की गयी है, महाभारत में भी यह कहीं कहीं दिखाई पड़ता है और उपनिषद्- वेदान्त में तो है ही । गीता में भी ध्यानपूर्वक देखने से मिल जाएगा । सृष्टि का क्रम सभी के मत में एक जैसा नहीं है । परन्तु उससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि मूल में सभी एकमत हैं । योगवाशिष्ठ में सारी बातें खूब स्पष्ट तथा विस्तारपूर्वक कही गयीं हैं, पढ़कर आसानी से समझ में आ जाती हैं ।

– ४५ –

तुम्हारे कार्य के विस्तार तथा प्रसिद्धि की बात जानकर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ । मन-प्राण लगाकर कार्य करने पर सिद्धि अवश्यम्भावी है, परन्तु निःसन्देह सिद्धि और असिद्धि में समभाव

१. इस देह में स्थित जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और वही इस त्रिगुणमयी प्रकृति में स्थित होकर मन और पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है । गीता १५/७

रहकर कार्य करते रहना ही आदर्श तथा अभीष्ट हैं। "मैं प्रभु के अधीन होकर उनके प्रीत्यर्थ उन्हीं की सेवा कर रहा हूँ" – हृदय में दृढ़तापूर्वक यह भाव रखकर कार्य कर सको, तो जान लेना कि यही उनका श्रेष्ठ भजन हो रहा है। कार्य को ठीक ढंग से तथा सुचारु रूप से चलाने के लिए जप-ध्यान करने की आवश्यकता है, इसमें कभी प्रमाद न हो। कार्य जैसे कर रहे हो, वैसे ही किए जाओ। निःसन्देह मंगल होगा।

– ४६ –

लगता है स्वास्थ्य ठीक न रहने के कारण ही तुम्हारा मन भी ठीक नहीं रह पाता। दोनों का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है, तो भी अपनी ओर से ईश्वर का स्मरण करने का प्रयास करना चाहिए। अपना कल्याण हम स्वयं न करे तो दूसरा कोई भी नहीं कर सकेगा।

उद्धरेदात्मानात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥[1]
जन्ममृत्युजराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्।
असक्तिरनभिष्वंग पुत्रदारगृहादिषु॥[2]

इत्यादि का अभ्यास करना चाहिए। शुष्क विचार से काम नहीं बनेगा, भगवत्कृपा के लिए प्रार्थना करनी होगी। प्रार्थना मन-प्राण को एकाग्र करके की जाती है। आन्तरिक प्रार्थना ही सच्ची प्रार्थना है। भगवान अन्तर्यामी हैं - वे भीतर की सारी बातें जानते हैं। सरल हृदय के साथ उनकी शरण लेनी चाहिए।

---

१ अपने द्वारा ही अपना उद्धार करो। अपना अधःपतन कदापि न करना, क्योंकि तुम स्वयं ही अपने मित्र और स्वयं ही अपने शत्रु हो। गीता ६/५

२ जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, रोग आदि दुःखों के प्रति दोषदृष्टि तथा स्त्री, पुत्र, गृह आदि विषयों से अनासक्ति। गीता १३/८-९

तुम तो सब जानते ही हो, और मैंने भी तुम्हें काफी कुछ बताया है । अब अधिक क्या कहूँ ? सभी विषयों में समय की अपेक्षा है । प्रभु बड़े ही दयालु हैं । उनके द्वार पर पड़े रहने से भी काम होता है । भले ही तत्काल न हो, पर निःसन्देह कभी न कभी समय होगा । द्वार पर पड़े रहने में ही कल्याण है । सर्वदा प्रार्थना करना कि उनके प्रति भक्ति हो । उनसे प्रेम करने पर अन्य विषयों के प्रति आसक्ति अपने आप ही दूर हो जाती है । एक बार भी यदि उनकी भक्ति का स्वाद मिल जाय तो अन्य रस फीके पड़ जाते हैं । मन-प्राण का उत्सर्ग करके भी उसी भक्ति की उपलब्धि करनी चाहिए, नहीं तो फिर क्या वे ऐसे ही मिल जाएँगे ? यह निश्चित रूप से जान लेना कि स्वयं प्रयास न करने पर दूसरा कोई कुछ भी न कर सकेगा ।

विचारों का महत्व

बिना विचार या चिन्तन के कोई कार्य नहीं हो सकता । मस्तिष्क को ऊँचे ऊँचे विचारों, ऊँचे ऊँचे आदर्शों से भर लो और उनको दिन रात मन के सम्मुख रखो; ऐसा होने पर इन्हीं विचारों से बड़े बड़े कार्य होंगे । अपवित्रता की कोई बात मन में न लाओ, बल्कि मन से कहो – मैं शुद्ध, पवित्रस्वरूप हूँ । हम क्षुद्र हैं , हमने जन्म लिया है, हम मरेंगे – इन्हीं विचारों से हमने अपने आपको एकदम सम्मोहित कर रखा है और इसीलिए हम सर्वदा भय से काँपते रहते हैं ।

– *स्वामी विवेकानन्द*